विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

राय पुर

वर्ष ५
अंक ४

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स। विधा। टा। ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल - जून १९६७

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

सह - सम्पादक एवं व्यवस्थापक

सन्तोषकुमार झा

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर (मध्य प्रदेश)

फोन नं० १०४९

विवेक ज्योति नियमावली

वार्षिक चन्दा	भारत में— ४)	एक अंक का १)
	विदेशों में – २ डालर या १० शिलिंग	

ग्राहकों के लिये—

१. 'विवेक-ज्योति' जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर महीने में प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से भेजना चाहिये। पिछली प्रतियाँ बाकी रहने पर ही भेजी जा सकती हैं।

२. ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या, नाम और पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिए।

३. यदि कोई अंक न मिले, तो डाकखाने में पहले पूछताछ करनी चाहिये। जिस अवधि का अङ्क न मिला हो उसी अवधि में सूचना प्राप्त होने पर, अंक की प्रति बची रहने पर ही भेजी जायगी।

४. यदि पता बदल गया हो, तो उसकी सूचना तुरन्त दी जानी चाहिए।

लेखकों के लिये—

१. 'विवेक-ज्योति' में आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक लेख तो रहेंगे ही, पर शिक्षा, मनोविज्ञान, कला, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान प्रभृति महत्वपूर्ण विषयों पर जीवन के उच्चतर मूल्य सम्बन्धी लेख भी उसमें प्रकाशित किए जायेंगे। उसी प्रकार उच्च भावों की प्रेरणा देनेवाले ऐतिहासिक और राष्ट्रीय चरित्रों के लिए भी इस त्रैमासिक में स्थान रहेगा। सुसंस्कृत अभिरुचिपूर्ण कविता, विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखे

गये यात्रा-प्रसंग तथा पुस्तकों की समीक्षा को भी इसमें स्थान प्राप्त होगा।

२. किसी प्रकार की व्यक्तिगत या विघातक टीका के लिए 'विवेक-ज्योति' में स्थान न रहेगा।

३. लेख में प्रतिपादित मत के लिए लेखक ही जिम्मेदार रहेगा।

४. लेख को प्रकाशन के लिए स्वीकृत करने पर उसकी सूचना एक माह के भीतर दी जायगी। अस्वीकृत रचना आवश्यक टिकट प्राप्त होने पर ही वापस की जायेंगी।

५. यदि लेख एक अनुवाद हो, तो लेखक को साथ में यह भी सूचना देनी चाहिए कि अनुवाद की आवश्यक अनुमति ले ली गयी है।

६. कागज के एक ही ओर सुवाच्य, अक्षरों से लिखे जायँ।

७. लेख संबंधी पत्र-व्यवहार सम्पादक से करना चाहिए

—व्यवस्थापक

— सूचना —

'विवेक-ज्योति' के पिछले अंकों की कुछ प्रतियाँ प्राप्य हैं। जो इन पिछले अंकों का संग्रह करना चाहते हैं, वे १) की एक प्रति के हिसाब से खरीद सकते हैं। सुन्दर उद्‌बोधक विचारप्रवण लेखों से परिपूर्ण 'विवेक ज्योति' का हर अंक संग्रहणीय है।

—व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति'

अनुक्रमणिका

———·——

ग्राहकों को विशेष सूचना

१— 'विवेक-ज्योति' के इस चतुर्थ अंक के साथ आपका वार्षिक चन्दा समाप्त हो रहा है। अतः अगले वर्ष के लिए अपना चन्दा ४) (चार रुपये) मनीआर्डर द्वारा कृपया व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय, पो० विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म० प्र०) के पते पर भेजें।

२— यदि आपका चन्दा हमें १५ दिसम्बर, १९६७ तक नहीं प्राप्त होगा, तो 'विवेक-ज्योति' के छठे वर्ष का प्रथम अंक आपको वी० पी० पी० से भेजा जायगा। वी० पी० ४) ७५ की होगी। आपसे अनुरोध है कि वी० पी० कृपा करके छुड़ा लें, अन्यथा इस धार्मिक संस्था को व्यर्थ की हानि सहनी पड़ जायगी।

३— यदि आप को अब ग्राहक नहीं रहना है, तो कृपया एक कार्ड डालकर शीघ्र हमें सूचित कर दें जिससे हम व्यर्थ वी० पी० न भेजें।

४— कुछ ग्राहकों से शिकायत आती है कि अंक उन्हें नहीं मिला। उनसे निवेदन है कि पहले अपने यहाँ के डाकघर में अच्छी तरह पूछताछ कर लें। यहाँ से 'विवेक-ज्योति' भेजने के पूर्व तीन बार चेकिंग करके भेजी जाती है। अतः जो गड़बड़ी होती है वह रास्ते में अथवा अन्तिम डाकघर में ही होती है। हमारे पास प्रतियाँ बची रहने पर हम ग्राहकों को गुमे अंक की प्रति पुनः भेजते ही हैं। प्रतियाँ शेष न रहने पर लाचारी है।

५—पत्र लिखते या मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।

— व्यवस्थापक
'विवेक—ज्योति'

सूचना ! सूचना !

आजीवन सदस्य योजना

हम आने वाले वर्ष यानी जनवरी १९६८ से 'विवेक-ज्योति' के लिए आजीवन सदस्य योजना का प्रारम्भ कर रहे हैं। इसका शुल्क १००) (एक सौ रुपया) होगा। इस योजना के अनुसार सदस्य बन जाने पर आपको 'विवेक-ज्योति' आजीवन प्राप्त होती रहेगी। इस बीच आगे चलकर यदि 'विवेक-ज्योति' हर दो महीनों में निकलने लगे अथवा भविष्य में वह मासिक हो जाय तो भी आपको बिना अतिरिक्त शुल्क पटाये 'विवेक-ज्योति' नियमित रूप से जीवन पर्यन्त प्राप्त होती रहेगी।

कृपया १००) विवेक-ज्योति कार्यालय को भेज कर इसके आजीवन सदस्य बनें, और अपने इष्ट मित्रों १२को बनावें एवं इस प्रकार हमें सहयोग प्रदान करें।

१३

आजीवन सदस्यों का नाम और पता 'विवेक-ज्योति'

१ में प्रकाशित किया जायगा।

१

— व्यवस्थापक
'विवेक-ज्योति'

“न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते”

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ५] अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर [अंक ४

वार्षिक शुल्क ४) १९६७ एक प्रति का १)

आशा-पाश !

आशा नाम मनुष्याणां काचिद् आश्चर्यशृंखला ।
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्ताः तिष्ठन्ति पंगुवत् ॥

—मनुष्यों को बाँधनेवाला आशा नामक एक अद्भुत पाश है जिससे बँध जाने पर तो मनुष्य इधर उधर भागता है और जिससे मुक्त होने पर वह पंगु के समान स्थिर हो जाता है ! (इसके विपरीत, अन्य पाशों से बँधने पर मनुष्य स्थिर हो जाता है जबकि उनसे मुक्त होने पर वह इधर-उधर भागता है ।)

पहले स्वयं गुड़ छोड़ो

किसी गाँव में एक व्यक्ति रहता था। वह अरसे से अस्वस्थ था। उसने कई वैद्यों और हकीमों से इलाज करवाया पर उसे लाभ न हुआ। वह बड़ा चिन्तित रहने लगा। कुछ दिन बाद उसने सुना कि दूर शहर में एक नये वैद्यजी आये हैं जिनका नाम दूर-दूर तक फैला हुआ है। उसने सोचा कि जाकर उन्हें दिखा आऊँ। हो सकता है, उनकी दवाई से मुझे आराम मिले। ऐसा विचारकर वह रास्ते में खाने के लिये कुछ सामान बाँधकर घर से निकल पड़ा।

जेठ का महीना था। धरती धू धू तप रही थी। लू गरम लावे के समान देह को झुलसा रही थी। तब के जमाने में मोटर गाड़ियाँ तो थी नहीं। पैदल ही लोग दूर दूर तक आया जाया करते। जिनके पास साधन होता, वे घोड़े पर अथवा बैलगाड़ियों में जाते। दो दिन पैदल चलकर वह व्यक्ति शहर पहुँचा और पूछते पूछते वैद्यजी के दवाखाने में आ हाजिर हुआ। रास्ते की थकान उसे चूर चूर कर रही थी। गरमी से वह बेकल था। वैद्यजी ने रोगी को अच्छी तरह से देखा-भाला। पूरी जाँच करके वैद्यजी ने उससे पूछा, "क्या तुम्हें गुड़-इमली बहुत पसन्द है?" उसने उत्तर देते हुए कहा, "हाँ जी महाराज, मुझे वह बहुत प्रिय है। दोनों समय भोजन में उसका सेवन करता हूँ।"

सुनकर वैद्यजी कुछ क्षण चुप रहे। फिर कहा, "देखो, तुम्हारी जाँच मैंने कर ली है। पर तुम्हारे रोग की दवाई अभी मेरे पास तैयार नहीं है। तुम पन्द्रह दिन बाद आकर दवाई ले जाना।" रोगी गिड़गिड़ाकर बोला, "वैद्यजी, बड़ी दूर से आया हूँ। गरमी के दिन हैं। रास्ता चलने में

बड़ी तकलीफ होती है। यदि आप कृपाकर एक दिन में दवा बना देते तो मैं रुक जाता।" वैद्य बोले, "देखो भाई, तुम्हारी दवा पन्द्रह दिन से पहले तैयार नहीं होगी। तुम पन्द्रह दिन बाद ही आओ।"

रोगी चला गया। पन्द्रह दिन बाद वह पुनः लम्बी और कष्टदायक यात्रा करके वैद्यजी के पास शहर आया और उनसे पूछा, "वैद्यजी, अब तो दवा तैयार हो गयी होगी?" वैद्यजी बोले, "हाँ भाई, तुम्हारी दवा तैयार है। सुनो, तुम्हें और कुछ नहीं करना है, बस गुड़ और इमली से परहेज करना है। तुम्हारा रोग दूर हो जायगा।" रोगी मानो आकाश से गिर पड़ा! "तो वैद्यजी, आपने क्या यही बताने मुझे इतनी दूर से गरमी में बुलवाया? यह तो आप तभी कह सकते थे!" रोगी गुस्से में भर कर चिल्लाया। वैद्यजी शान्त भाव से बोले, "सुनो भाई, नाराज मत हो। बात यह है कि जब पन्द्रह दिन पहले तुम मेरे पास आये थे, तब मैं ही गुड़-इमली का पर्याप्त सेवन करता था। यदि उस समय मैंने तुमसे गुड़-इमली खाने के लिए मना किया होता तो तुम पर मेरी बात का प्रभाव न पड़ता। इन पन्द्रह दिनों में मैंने गुड़-इमली को स्पर्श तक नहीं किया है। इसीलिए अब जो तुमसे मैंने यह कहा है, इसका असर तुम पर पड़ेगा।"

इस कथा का तात्पर्य यह है कि लोग दूसरों को उपदेश देना चाहते हैं। जो बातें स्वयं के जीवन में नहीं उतरी हैं, उनका प्रभाव दूसरों पर कैसे पड़ेगा? किसी बात का उपदेश देने के पहले हमें यह देखना चाहिए कि उसका पालन हम अपने जीवन में कहाँ तक कर रहे हैं। यदि दूसरों को गुड़ छोड़ने का उपदेश देना है तो पहले स्वयं गुड़ छोड़ो।

आत्म-शुद्धि

ब्रह्मलीन स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज, रामकृष्ण मिशन

(विसबैदन, जर्मनी में की गयी आध्यात्मिक चर्चा ।)

सदिच्छा का होना भगवान् की कृपा का लक्षण है। ऐसे लोग बहुत कम होते हैं जिनमें कुछ अच्छी प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो कम से कम एक उच्चतर जीवन की इच्छा रखते हैं। अधिकांश लोग संसार के सुख-भोगों के पीछे अनवरत भागते रहते हैं और भवसिन्धु में डूब जाते हैं।

हमारे सामने दो विकल्प हैं – ईश्वर का अनन्त आनन्द अथवा इन्द्रियों का सुख। भले ही लोग कुछ भी कहें, पर इन दोनों का उपभोग एक साथ नहीं किया जा सकता। 'जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।' समस्त ऐन्द्रिक सुखों और अहं की वृत्तियों से ऊपर उठने पर ही इस आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। इसके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं। हम सदैव दूसरों का चेहरा देखते हैं पर अलेप होकर शायद ही कभी हमने अपने आपको देखा हो। हमारा मन बहिर्मुखी है। वह अन्तर्मुख होना नहीं चाहता। ऐसे बहिर्मुखी मन के द्वारा उच्चतर उपलब्धियाँ कभी नहीं हो सकतीं। जब तक अखण्ड ब्रह्मचर्य-धारण के द्वारा तुम मन को शुद्ध नहीं कर लेते और उसे भीतर की ओर नहीं मोड़ देते, तब तक आध्यात्मिक जीवन की कोई सम्भावना नहीं है। यह एक ऐसा शाश्वत नियम है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं है। कुछ ही ऐसे भाग्यवान् व्यक्ति होते हैं जो

अपनी इन्द्रियों के बाहरी दरवाजे बन्द कर लेते हैं और इस प्रकार मन को भीतर समेटकर सत्य की अनुभूति का प्रयत्न करते हैं।

आध्यात्मिक जीवन तब शुरू होता है जब हम मन को बाहर जाने वाली वृत्तियों को रोककर अन्तर्मुखीन बनते है; जब हम मन को इन्द्रियों से खींच लेना सीखते हैं। यह एक भीषण तनाव और संघर्ष की अवस्था है। अन्दर नियमन प्राप्त करने के प्रयत्न में हमें बाहर भी पूर्ण नियमन प्राप्त करना पड़ता है। यह समयसाध्य क्रिया है। इस संघर्ष में से जाकर जीवन को स्वाभाविक बनाने तथा तनावों से मुक्त करने में लम्बा समय लगता है। शुरू शुरू में मन में एक गाँठ बन जाती है पर वह चिन्ता का विषय नहीं, क्योंकि बाद में जैसे ही व्यक्तित्व अथवा 'अहं' की हमारी मिथ्या धारणा तिरोहित होती है त्योंही वह गांठ भी खुल जाती है। हमारे मन को एक दर्पण के समान होना चाहिए; अर्थात् हमें मन की समस्त गतिविधियों पर सतर्क निगरानी रखनी चाहिए। जो भी विचार मन में उठते हैं अथवा उठकर मन को बहा ले जाना चाहते हैं, हमें उन सबका पता होना चाहिए। मन में लिपिबद्ध करने की बडी भारी क्षमता है, पर दुर्भाग्य से हम इसे लक्ष्य नहीं कर पाते। हमें इसकी परवाह नहीं होती कि मन में क्या हो रहा है। जो कुछ भी आध्यात्मिक है उसके प्रति हम असावधान और लगावहीन होते हैं तथा बाहर की क्रियाओं में हम पूरे सांसारिक होते हैं। इसलिए हम आगे नहीं बढ़

पाते। कुछ लोगों का मन इतना गन्दा, लोभ-वासनाओं से इतना ढका हुआ होता है कि मन का 'दर्पण होना' भी उन्हें मदद नहीं कर सकता। हम जितनी भी कोशिश करें, पर ऐसे लोगों को सहायता नहीं पहुँचा सकते।

जो मन यथार्थ में अन्तर्मुखीन होता है वह हमारे भीतर घटनेवाले समस्त व्यापारों को सामने लाकर रख देता है। हमें पूरी तरह जाग जाना चाहिए और मन में उठने वाले प्रत्येक विचार का पता होना चाहिए। आध्यात्मिक जीवन की यह सबसे पहली सीढ़ी है। मन पर नियंत्रण प्राप्त किए बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते और मन में क्या चल रहा है इसे बिना जाने हम उस पर नियंत्रण नहीं प्राप्त कर सकते।

हमारे सामने दो मार्ग हैं। हमें निश्चय कर लेना चाहिये कि किसी मार्ग से जाना है। यदि हमने उच्चतर मार्ग पर चलने का निश्चय किया तो फिर किसी भी कीमत पर, पूरी लगन और अध्यवसाय के साथ, हमें उस मार्ग पर चलना चाहिए। प्रलोभन तो बहुत आते हैं। हमारे पहले के संस्कार हमें सताते हैं क्योंकि हमारा पहले का जीवन पूरी तरह शुद्ध और निर्लिप्त नहीं होता। परन्तु जिन लोगों का जीवन बचपन से ही निष्कलुष होता है वे सांसारिक प्रलोभनों के ऊपर उठने में बहुत कठिनाई नहीं महसूस करते। ये प्रलोभन उनके लिए छाया के समान होते हैं।

कभी कभी साधक के जीवन में विगत जीवन की वासनाएँ विकराल रूप लेकर उपस्थित होती हैं। बीते हुए

दिनों के वासनामय दृश्य मानो नये रंगों में रँगकर उभर आते हैं। जो संस्कार पहले बड़े क्षीण-से मालूम पड़ते थे वे अपनी सारी शक्ति के साथ, विशेषकर ध्यान के समय, साधक के मनश्चक्षु के सामने आ खड़े होते हैं। सभी महान् पुरुषों को प्रलोभनों की आँधी में से होकर जाना पड़ा, पर उनका मन ऐन्द्रिक सुखों की ओर न मुड़ा। श्रीरामकृष्ण के जीवन की ओर देखो, स्वामी विवेकानन्द और श्री चैतन्य महाप्रभु के जीवन की ओर दृष्टिपात करो। कितनी पवित्रता तन और मन की थी उनमें! श्रीरामकृष्ण तो नारी की कल्पना जगन्माता के अतिरिक्त अन्य किसी भी रूप में नहीं कर सकते थे।

हमारे संस्कार रूपी ये 'पुराने मित्र' हमारे पास पुनः पुनः आते हैं और हमें अपने झंझावात में बहा ले जाना चाहते हैं। हम भी कुछ न कुछ मात्रा में उनके द्वारा प्रभावित हो जाते हैं। पर जब एक बार हममें यथार्थ वैराग्य का उदय होगा तो हम इन मित्रों का सामना बिना विचलित हुए कर सकेंगे। तब ये मित्र भी आना बन्द कर देंगे। अतएव इन 'पुराने मित्रों' से डरो मत। जब वे आयें तो साहसपूर्वक उनका सामना करो। पर यह जान लो कि इन पुराने संस्कारों का क्षय बहुत धीरे धीरे ही हो पाता है।

किसी मनुष्य के पास एक कुत्ता था। वह उसे बहुत प्यारा था। मालिक उसे सदैव अपने पास रखता, उसे पुचकारता और दुलारता। पर एक दिन मालिक का जी कुत्ते से उचट गया। वह कुत्ते को साथ नहीं रखना चाहता

था। उसने कुत्ते को दूर भगाने के लिए जोरों से लातें लगायीं। पर कुत्ता फिर से मालिक के पास आ गया। कुत्ते को विश्वास ही न हुआ कि मालिक अब उसे नहीं चाहता है। मालिक ने कुत्ते को फिर से लातें लगायीं। कुछ समय तक कुत्ते का आना और मालिक का उसे लात से मारना चलता रहा। किन्तु एक दिन कुत्ते ने यह समझ लिया कि मालिक सचमुच में उसे नहीं चाहता है। तब से उसने मालिक को छोड़ दिया। हमारी भी बस यही दशा है। हम सदैव से इन्द्रियों को दुलारते रहे हैं, उनकी हाँ में हाँ मिलाते रहे हैं, अपने ऊपर उन्हें हावी होने देते रहे हैं। हमने कभी इन्द्रियों का विरोध नहीं किया। अतः यहाँ भी इन्द्रियों को यह समझने में लम्बा समय लगेगा कि अब उनकी इच्छाएँ पूरी नहीं होने की।

वर्तमान में हमारे मन का एक भाग इन्द्रिय-सुखों की चाह करता है और दूसरा भाग इन सुखों को नहीं चाहता। अतः इन दो भागों में जबरदस्त रस्सा खींच मची रहती है। तुम्हें इन्द्रिय-सुखों के प्रति विरसता उपजानी पड़ेगी और ऐसे लोगों का साथ छोड़ना पड़ेगा जो तुम्हारे लिए खतरा सिद्ध होते हों। तुम्हें 'कुत्ते' को यह समझा देना पड़ेगा कि तुम उसे नहीं चाहते। हमारी सहेजी हुई इच्छाएँ, कामनाएँ और वासनाएँ तथा विशिष्ट वस्तुओं के प्रति हमारा राग-द्वेष ही यह 'कुत्ता' है। इन्हें कसकर ठोकरें लगानी होंगी।

जब साधक के जीवन में परीक्षा के ऐसे क्षण आयें तो उसे हृदय के अन्तरतम प्रदेश से भगवान् से पवित्रता और

शक्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। असावधानी और अविचारपूर्वक बिताये गये विगत जीवन में जो अशुद्ध संस्कार आकर जमा हो गये उन्हें मन से हरदम के लिए निकाल देने को प्रार्थना करनी चाहिए और भगवान् से व्याकुल होकर कहना चाहिए, "प्रभो! मुझ पर कृपा करो। पुराने अशुद्ध संस्कारों को इस प्रकार निकाल दो कि वे पुनः पास न फटक पायें।" गीता में कहा है—"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽपि अस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥" अर्थात् 'जब हम मन को विषयों से हटा लेते हैं तो विषय हमसे दूर तो हो जाते हैं पर उनके प्रति, पुराने संस्कारों के फलस्वरूप, रस बना ही रहता है। उस परमात्मा को देख लेने पर वह रस भी नष्ट हो जाता है।" अतः ईश्वर से प्रार्थना करो—"हे शक्तिस्वरूप! मुझे शक्ति दो। हे बलस्वरूप! मुझे बल दो।"

तुम्हें उन वस्तुओं के प्रति अरुचि जगानी चाहिए जो तुम्हारी इन्द्रियों को आकर्षित करती हैं तथा जो पुराने संस्कारों को उभाड़ने में सहायक होती हैं। यहाँ तक कि, ऐसे व्यक्ति के प्रति घृणा का भाव भी उपजाना एक बार क्षम्य हो सकता है जिसका सम्पर्क तुम्हारे भीतर के दानव को जगाता हो। बाद में इस अरुचि और घृणा के भी परे चले जाना होगा। जब संसार और उसके विषयों के प्रति सच्चा वैराग्य का भाव मन में उदित होता है तो समस्या सुलझ जाती है। तब हम ऐसे कुछ का आस्वादन करते हैं जो इन्द्रियों के तथाकथित सुख से अधिक मधुर होता है।

एक बार रथयात्रा के समय श्री रामानुजाचार्य विग्रह् को अपनी श्रद्धा-भक्ति अर्पित करने के लिए बाहर आये। सड़कों पर बड़ी भीड़ थी। इस भीड़ में उन्होंने एक दम्पति को देखा। वह पुरुष सारे समय टकटकी लगाकर स्त्री के मुखड़े की ओर देख रहा था। उसे न तो यात्रा का भान था, न विग्रह का। वह तो अपनी प्रियतमा के चेहरे में ही मानो गड़ा हुआ था। रामानुज ने उस व्यक्ति से पूछा, "भगवान् की इतनी सुन्दर शोभा-यात्रा निकाली गयी है और तुम उधर न देखकर इस स्त्री की ही ओर देख रहे हो; क्या बात है?" उसने उत्तर दिया, "अजी, आप देखते नहीं, उसकी नाक कितनी सुन्दर है! वह मेरी प्रिया है।" तत्पश्चात् करुणा के वश हो, श्रीरामानुज ने उस व्यक्ति को ऐसे सौन्दर्य का दर्शन कराया जो उस स्त्री के मुखड़े से कहीं अनन्तगुना अधिक था। उनकी कृपा से वह दोनों स्त्री-पुरुष गलत रास्ता छोड़कर उनके सान्निध्य में आ गये और आगे चल कर बड़े सन्त हुए। श्रीरामानुज ने उस व्यक्ति को जो दर्शन कराया था वह समस्त भौतिक गरिमा और मानवीय प्रेम से श्रेष्ठ था। इसीलिए उसका वह भौतिक प्रेम धीरे धीरे शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम में रूपान्तरित हो गया।

हमारी भी दशा अधिकांशतः इस व्यक्ति के समान है। हम उच्च आदर्श का चिन्तन और तदनुरूप जीवन बिताने के बदले भौतिक सुखों के पीछे भागते हैं और इस प्रकार जीवन के वास्तविक सौन्दर्य से स्वयं को वंचित कर लेते हैं। हम अपनी इन्द्रियों और प्रवृत्तियों के दास बन जाते

हैं। इससे जीवन की महत्ता का बोध हमें नहीं हो पाता।

यदि तुम्हें ऐसा लगे कि किसी भी प्रकार का प्रलोभन तुम्हें डिगा रहा है तो तुम उन बुरे विचारों के अशुभ परिणामों का चिन्तन करो, अथवा ऐसे व्यक्ति के जीवन के बारे में सोचो जो पवित्रता और त्याग की साकार मूर्ति हो। कभी कभी इस प्रकार का अभिमान हमें बचा लेता है कि "मैं प्रभु का भक्त हूँ; मैं कुलीन परिवार का हूँ; मैं शरीफ हूँ; मैं तो अध्यात्म के रास्ते चलना चाहता हूँ; अतः ऐसा कृत्य मुझे शोभा नहीं देता।" श्रीकृष्ण अर्जुन से गीता में कहते हैं, "क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वयि उपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥"—अर्थात्, "हे शत्रुतापन! यह कायरता छोड़। वह तुझे शोभा नहीं देती। हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर खड़ा हो जा।" अपनी कामनाओं और ऐन्द्रिक सुखों के वेग में बह जाना कायरता और पौरुषहीनता का ही लक्षण है। यह बात स्त्री के लिए भी लागू होती है। जो यथार्थ में पुरुषार्थी है वह कभी भी अपनी वासनाओं को अपने ऊपर प्रभुत्व नहीं डालने देता।

प्रत्येक साधक को अर्जुन के समान शत्रुतापन बनना पड़ेगा। कामना-वासना, लालसा-भोग, आसक्ति-इंद्रिय-लालन—ये सब शत्रु हैं जो हर समय साधक को पथभ्रष्ट करने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार उसे सत्य से च्युत कर देना चाहते हैं। इन शत्रुओं को संतप्त करना होगा!

यही 'आर्यजुष्ट' है। जो इस पथ पर नहीं चलता वह 'आर्य' नहीं है !

जब हमारा मस्तिष्क बिलकुल साफ और शान्त रहता है तो हम विवेक कर सकते हैं कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं पुरुष नहीं हूँ, मैं स्त्री नहीं हूँ, मैं अमुक-अमुक नहीं हूँ। आध्यात्मिक जीवन का मतलब है देहबोध, यौन-भावना और समस्त उपाधियों के बुलबुले को फोड़ देना। यह बुलबुला हमारे इन्द्रिय-लालन के कारण सागर के फेन के समान कड़ा हो जाता है और फोड़े नहीं फूटता।

जब जीवन के सागर में हमारी यह छोटी सी नौका इन्द्रिय-थपेड़ों के कारण डगमगाने लगती है तो उस समय पतवार को थामे रहना अत्यन्त कठिन हो जाता है। हम इतने पौरुषहीन और 'अनार्य' होते हैं कि ऐसे समय हम पतवार को रख देना चाहते हैं और बहाव में अपने आपको डाल देते हैं। ऐसी परिस्थिति में यान्त्रिक रूप से ही सही, पर इष्ट मंत्र का जाप चलने दो। ऐसा प्रकट न करो कि तुम डर गये हो; अपने ऊपर परिस्थिति को हावी न होने दो। स्वाभिमान को जगाकर रखो। एक अवस्था में यह स्वाभिमान हमारी बड़ी सहायता कर सकता है। अपने को 'भेड़' न बना लेना। यह सही है कि ऐसी अवस्था में मस्तिष्क किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और आत्म-संयम बड़ा कठिन हो जाता है। जब वासनाओं और पुराने संस्कारों का प्रवाह बड़े वेग से हम पर उमड़ता हो उस समय हम क्या करें ? यदि तुम स्वयं ही अपने ऊपर नियंत्रण पाने में असमर्थ हो तो अपने किसी साथी साधक के पास चले जाओ और

उसके साथ सत्चर्चा करके मन को दूसरी ओर फेरने की कोशिश करो। ऐसे समय अकेले मत रहो और उठने वाले विचारों के प्रवाह में मन को मत बहने दो। अन्यथा परिस्थिति औरभी जटिल हो जाती है और पैर के फिसलने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। अपने विचारों को दूसरी किसी चीज में लगाने की कोशिश करो। भले तुम्हारा मन चाहे या न चाहे, मन को पढ़ाई और अध्ययन में लगाने का प्रयत्न करो। अपनी निम्न प्रवृत्तियों की चाल में न आओ। यदि तुम्हें निम्न प्रवृतियों पर नियंत्रण खोने का भय हो तो दूसरे साधकों का साथ करो और जब तक आवश्यकता महसूस हो तब तक उनके साथ रहो। उनसे चर्चा करो, अपनी समस्याओं को उनके सामने रखो पर अपने उन निम्न विचारों को स्वयं पर हावी न होने दो। वासनाओं को सिर न उठाने दो और शारीरिक स्तर पर उन्हें प्रकट न होने दो। यदि यह सब करने पर भी तुम सफल न हुए तो जाकर ठंडे पानी से नहा लो।

ईसाई सन्त परीक्षा के ऐसे क्षणों में अपने शरीर को कष्ट देते थे क्योंकि उन्हें यह नहीं मालूम था कि मन की प्रवृत्तियों और कामनाओं को उदात्त कैसे बनायें। इस प्रकार शरीर-पीड़न से समस्या सुलझती नहीं और कहीं कहीं पर तो देह-बोध इससे और भी प्रबल हो जाता है। पाप की बात तक मन में न लाओ। कीचड़ को कीचड़ से साफ नहीं किया जा सकता। पाप की भावना से समस्या सुलझने की बजाय और भी गम्भीर हो जाती है। यदि

तुम बलवान बनना चाहो तो कमजोरी का चिन्तन करके वैसा नहीं हो सकते। जब प्रलोभन आयें और मन को फँसाने का प्रयास करें तो ऐसे समय उन पर विचार न करना एक महत्त्वपूर्ण साधन है। भले ही कठोर शरीर-पीड़न साधक की लगन और निष्ठा का प्रतीक हो पर वह यह सूचित करता है कि साधक आध्यात्मिक जीवन के नियमों से सर्वथा अनभिज्ञ है। शैतान बाहर नहीं है, वह तो भीतर है। कामनाएँ और लालसाएँ तुम्हारे अपने अन्दर हैं, बाहर नहीं। पाप का विचार तुम्हें अधिक पवित्र नहीं बनाएगा। यदि तुम चिल्लाते रहो—'मैं पापी हूँ, मैं पापी हूँ, तो सचमुच तुम पापी ही हो जाओगे। अपने शाश्वत निर्मल स्वभाव का चिन्तन करो—उन उपाधियों का नहीं जिनकी कोई बुनियाद नहीं है।

हमें यह जानकर प्रसन्न ही होना चाहिए कि बुरा और दोषयुक्त जो कुछ है वह भीतर ही है। यदि वह बाहर होता तो हम उसे किसी भी प्रकार बदल नहीं सकते। जब हम पहले पहल ध्यान करते हैं और जब ध्यान कुछ ठीक से होता है तो वह हमारे समूचे अवचेतन मन को मथ देता है। इससे बड़ी भयंकर चीजें ऊपर आती हैं। पर साधक को इससे भयभीत नहीं होना चाहिए। मन जब अन्तर्मुखीन होता है तो वह अत्यन्त संवेदनशील हो जाता है। तब वे संस्कार जो मन पर विशेष छाप छोड़ते हुए नहीं प्रतीत हुए थे, अत्यधिक प्रभावशील मालूम होते हैं और मन पर गहरी छाप अंकित कर जाते हैं। ऐसे संस्कारों को पूरी

तरह निकालना होगा। यदि हम लक्ष्य के समीप जाना चाहते हैं तो हमें संस्कारों की यह धुलाई करनी ही होगी। इसके बिना हमारे हाथ कुछ न लग पायेगा।

साक्षी बनने का प्रयास करो। अपनी वासनाओं, इच्छाओं और बाहर की घटनाओं के साथ अपने आपको युक्त न करो। भले ही तुम्हारा मन शैतान के समान इधर उधर भटके पर तुम उसके साथ न बहकर उसके साक्षी बनो। सोचो कि तुम सदैव से समस्त मानसिक अवस्थाओं के द्रष्टा हो। अपने विचारों से तादात्म्य न जोड़ो। प्रारम्भ में साधक को ऐसा करना अत्यन्त कठिन मालूम पड़ता है पर धीरे धीरे, इसका अभ्यास करने पर, यह स्वाभाविक होता जाता है और तनाव कम होने लगते हैं। आध्यात्मिक जीवन में यह साधना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। जितने औजार (आध्यात्मिक जीवन के) तुम्हें मिल सकें, सब साथ रखो। यदि एक औजार काम न आये तो दूसरे औजारों से काम लो।

जप अत्यधिक महत्त्व का है। किसी पवित्र रूप पर चिन्तन करना भी उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण है। रूप ही अरूप के-सर्वव्यापी चैतन्य के राज्य में जाने का रास्ता है। अपना एक इष्ट चुन लो और उनसे प्रार्थना करो। इष्ट को मन में देखने की कोशिश करो। यदि मन में कोई कुविचार उत्पन्न हो तो उसे इष्ट की सहायता से दूर किया जा सकता है। उस विचार को इष्ट में ही डुबो दो!

साथ ही, वेदान्त की सुई लगाना न भूलो। इससे बड़ी

सहायता मिलती है। अपने भीतर निहित देवत्व का चिन्तन करो और उसी प्रकार सभी रूपों में जो ब्रह्मभाव छिपा है उसका विचार करो। यहाँ तक कि जो तुम्हें परेशान करते हैं उनके भी भीतर उसी छिपे हुए देवत्व को देखने की कोशिश करो। यदि हम वास्तव में स्वभाव से शुद्ध और पवित्र हैं तो यह शुद्धता हमारे जीवन में केवल मानसिक धरातल पर ही नहीं बल्कि हाड़-मांस के धरातल पर भी उतरे। यथार्थ आध्यात्मिक जीवन की कसौटी यही है। भौतिक और मानसिक दोनों स्तरों पर आत्मा का प्रकाश झलके। हमारी आध्यात्मिक साधनाएँ यथार्थ और आदर्श का आवश्यक समन्वय करें। केवल शब्दों और सिद्धान्तों के फेर में मत पड़ो। जीवन को बदलना चाहिए। बहुत से लोग केवल बाहरी आडम्बरों में व्यस्त रहते हैं। ऐसे लोग कुछ समय बाद उकता जाते हैं और कहते हैं. "हमने भी आध्यात्मिक जीवन को समझने की कोशिश की है। पर वह असार है। उसमें कुछ नहीं धरा है।" आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है तीव्र अध्यवसाय और प्रबल ध्येय-निष्ठा। इनके बिना किसी प्रकार की आध्यात्मिक उपलब्धि सम्भव नहीं। "आत्मा स्वभावतः शाश्वत और नित्य है। शरीर क्षणिक और अनित्य है। फिर भी अज्ञानी जन दोनों को एक समझते हैं। इससे बढ़कर अज्ञान और कौन सा हो सकता है?"

– 'वेदान्त केसरी' से साभार।

स्वामी अद्भुतानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

युगावतार श्रीरामकृष्ण एक महान् कीमियागर थे। वे इच्छा मात्र से ही व्यक्ति के मोह पाशों को छिन्न-भिन्न कर उसे ईश्वर-साक्षात्कार करा देते थे। उनकी इस अभूतपूर्व आध्यात्मिकता का ज्ञान उनके भक्तों एवं शिष्यों के जीवन का अनुशीलन करने से भली-भाँति हो जाता है। वे धर्म के क्षेत्र के महान् वैज्ञानिक थे। वे व्यक्ति की प्रकृति और आन्तरिक स्वभाव के अनुरूप उसका आत्मिक विकास करते थे। उन्होंने जहाँ महाविद्यालयीन शिक्षा में दीक्षित और संदेहवादी दार्शनिकों के विचारों से अनुप्राणित नास्तिक नरेन्द्रनाथ को युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द बना दिया था, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने एक अत्यन्त निर्धन, अशिक्षित और अनाथ बालक रखतूराम के हृदय में आध्यात्मिकता की ऐसी शक्तिमयी धारा प्रवाहित कर दी थी कि वह ब्रह्मनिष्ठ मनीषी बन गया और कालान्तर में स्वामी अद्भुतानन्द के नाम से विख्यात हुआ। स्वामी अद्भुतानन्द का जीवन एक खुली किताब की तरह है। वह हमें बताता है कि शास्त्रों के ज्ञान से ईश्वर की उपलब्धि नहीं होती है, विद्वत्ता से ब्रह्मलाभ नहीं होता।

स्वामी अद्भुतानन्द का पूर्व नाम रखतूराम था। वे बिहार के छपरा जिले के किसी गाँव में पैदा हुए थे। उनके बाल्य-जीवन का कोई विवरण नहीं मिलता।

इसका कारण यह था कि वे अपने विषय में कुछ भी नहीं कहते थे। यदा-कदा उनके द्वारा जो कुछ संकेत मिला था उससे यह पता चलता है कि उनके माता-पिता अत्यन्त निर्धन थे। यद्यपि वे परिश्रमी थे पर उनका जीवन-निर्वाह अत्यन्त कठिनाई से होता था। जब वे पाँच वर्ष के थे तभी उनके माता-पिता का देहावसान हो गया। इसके बाद रखतूराम का पालन-पोषण उनके काका करने लगे। पर जीवन-निर्वाह की समस्या इतनी कठिन थी कि उनके काका को अपनी जन्मभूमि त्याग कर कलकत्ता आना पड़ा। बालक रखतूराम भी उनके साथ थे। काफी प्रयत्न के बाद रखतूराम को श्रीयुत् रामचन्द्र दत्त के घर नौकरी मिल सकी।

रामचन्द्र दत्त श्रीरामकृष्णदेव के एक बड़े भक्त थे। उनका समूचा परिवार धर्मप्रवण था और उनके घर में हमेशा धार्मिक चर्चाएँ हुआ करती थीं। रखतूराम पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। एक बार उन्होंने रामचन्द्र दत्त से सुना कि "जो भी ईश्वर का भक्त है, वह उनका दर्शन अवश्य करता है। इसके लिये एकान्त में भगवान् से रो-रो करके प्रार्थना करनी चाहिये, तभी वे दर्शन देते हैं।" इन शब्दों का रखतूराम के हृदय में अमिट प्रभाव पड़ा। वे जीवन-भर इनका स्मरण करते रहे। रामचन्द्र दत्त के इन वाक्यों ने रखतूराम को धार्मिक जीवन की एक सुस्पष्ट दिशा दिखायी थी और वे यथासम्भव इसे अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करने लगे। कभी-कभी वे

कम्बल ओढ़कर लेटे रहते, उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकलती और वे अपनी हथेली से आँसुओं को पोंछते रहते। घर की महिलाएँ रखतूराम की ऐसी हालत देखकर कहा करती थीं कि बेचारे को अपने घर की याद आ रही होगी। इस प्रकार का विचार कर वे उसे सान्त्वना भी दिया करतीं।

सेवक के रूप में रखतूराम अत्यन्त परिश्रमी थे और रामचन्द्र दत्त का परिवार उनपर अगाध विश्वास किया करता था। रामचन्द्र दत्त के एक मित्र महाशय ने एक बार यह शंका प्रकट की कि अवश्य यह छोकरा बाजार से सौदा करने के लिये दिये गये पैसों में से कुछ अपने लिये बचा लेता होगा। यह सुनते ही रखतूराम क्रुद्ध हो उठे और बोले—"महाशय, आप इस बात को अच्छी तरह से जान लीजिये कि मैं नौकर तो हूँ पर कोई चोर नहीं हूँ।" रखतूराम ने इतनी दृढ़ता और आत्मविश्वास से उत्तर दिया था कि मित्र महाशय को चुप हो जाना पड़ा। बाद में जब उन्होंने रखतूराम के रूखे व्यवहार की शिकायत रामचन्द्र दत्त से की तो उन्होंने भी रखतूराम का ही पक्ष लिया। यद्यपि रखतूराम निरक्षर भट्टाचार्य थे पर वे काफी स्पष्टवादी और निर्भीक थे। आधुनिक शिक्षा जिस कृत्रिम आचार की प्रणाली का निर्माण करती है उससे रखतूराम कोसों दूर थे। इसीसे उनमें स्पष्टवादिता और निर्भयता जैसे देवदुर्लभ गुणों का संचार हुआ था। ये दोनों गुण उनमें जीवन भर बने रहे। इसी की ओर लक्ष्य कर एक बार

श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था, कि स्पष्टवादिता एक दुर्लभ गुण है और इसकी प्राप्ति पूर्व जन्म की कठोर तपस्या के फलस्वरूप ही होती है। इस गुण से ईश्वर का साक्षात्कार बड़ी सुगमता से हो जाता है।

रखतूराम को रामचन्द्र दत्त के घर में ही श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में पता चला था। वे तभी से उनके दर्शन के लिए व्याकुल हो गए थे। इसके कुछ समय के बाद ही उन्हें दक्षिणेश्वर जाने का सुअवसर मिला। श्रीरामकृष्णदेव ने पहली दृष्टि में ही रखतूराम की आध्यात्मिक सम्भावनाओं की थाह पा ली थी। रखतूरामने भी श्रीरामकृष्णदेव के प्रति अतीव आकर्षण का अनुभव किया। परम प्रेममय श्रीरामकृष्णदेव ने इस अनाथ के हृदय की चिर अवरुद्ध प्रेम की धारा को उन्मुक्त कर दिया और वह बड़े वेग से श्रीरामकृष्ण की ओर प्रवाहित होने लगी। रखतूराम का मन-प्राण देवमानव के प्रेम-सागर में डूब गया। रातदिन श्रीरामकृष्ण के स्नेहसिक्त वचन उनके कानोंमें गूँजने लगे। रखतूराम की सारी चेतना श्रीरामकृष्ण को आलम्बन बनाकर केन्द्रित हो गयी। इस मनःस्थिति के कारण रखतूराम के दैनन्दिन कामों में बाधा पड़ने लगी। पर रामचन्द्र दत्त के परिजन उनसे बहुत स्नेह करते थे। इसलिए उन्होंने रखतूराम को इसके लिए नहीं टोका।

किन्तु आनन्द की यह स्थिति क्षणिक थी। कुछ ही दिनों के बाद श्रीरामकृष्ण कामारपुकुर चले गये और वहाँ लगभग आठ महीने रहे। रखतूराम के लिए यह

वियोग असह्य था। वे उदास हो गये और रात-दिन विचारों में लीन रहने लगे। यदाकदा दक्षिणेश्वर पहुँचकर वे इधर-उधर घूमते रहते थे। जो उन्हें पहचानते थे वे अटकलें लगाया करते कि यह छोकरा काम के डर से यहाँ भागकर आ गया है। पर उनकी व्यथा को कौन समझ सकता था? बाद में वे इस समय की याद करते हुए कहा करते थे, "तुम मेरी उस समय की पीड़ा की कल्पना नहीं कर सकते। मैं ठाकुर † के कमरे में, दक्षिणेश्वर के बगीचे में, इधर-उधर घूमता रहता था। मुझे सब कुछ सूना-सूना लगता था। अपने हृदय के बोझ को हल्का करने के लिये मैं रोता भी था। रामबाबू ने ही मेरी मनोदशा को कुछ-कुछ भाँपा था और मुझे ठाकुर का चित्र दिया था।"

श्रीरामकृष्णदेव के दक्षिणेश्वर लौटने पर रखतूराम को नया जीवन मिला। अवसर मिलते ही वे दक्षिणेश्वर चले जाया करते थे। यदाकदा रामचन्द्र दत्त भी रखतूराम के हाथ श्रीरामकृष्ण के लिये फल और मिठाइयाँ भेजा करते। रखतूराम श्रीरामकृष्ण के अलौकिक प्रेम का आस्वादन कर विभोर हो उठे। उनके लिए अब चाकरी करना कठिन होता जा रहा था और वे सब-कुछ छोड़-छाड़ कर दक्षिणेश्वर में रहने की जबरदस्त इच्छा अनुभव कर रहे थे। रामबाबू के परिवार की महिलाएँ रखतूराम से परिहास के स्वर में कहा करतीं—'तुम्हें दक्षिणेश्वर में खाना कपड़ा कौन देगा?" पर रखतूराम को इसकी तनिक भी चिन्ता

† श्रीरामकृष्णदेव भक्तों में 'ठाकुर' नाम से परिचित थे।

नहीं थी। वे केवल दक्षिणेश्वर के उस महान् सन्त के चरणों के समीप रहकर उनकी सेवा करना चाहते थे। अन्तर्यामी श्रीरामकृष्ण अपने इस बाल-भक्त की इच्छा जान गये थे। उन्हें भी एक सेवक की आवश्यकता थी। उन्होंने रामचन्द्र दत्त से रखतूराम को माँग लिया। रामबाबू तुरन्त राजी हो गये और तबसे रखतूराम दक्षिणेश्वर में रहने लगे।

रखतूराम की चिरांकाक्षा फलवती हो रही थी। वे जी-जान से श्रीरामकृष्ण की सेवा में लग गये। श्रीरामकृष्ण उनसे बहुत स्नेह करते थे और प्रेम से उन्हें 'नेटो', 'लेटो' और 'लाटू' कहकर पुकारा करते थे। बाद में उनका नाम ही 'लाटू' हो गया और वे लाटू-महाराज के नाम से संबोधित होने लगे।

लाटू महाराज का जीवन इस सत्य का ज्वलन्त प्रमाण है कि ऐकान्तिक गुरुसेवा से व्यक्ति ब्रह्मलाभ कर सकता है। अब श्रीरामकृष्ण ही लाटू के चरम उद्देश्य बन गये थे। उनकी सेवा ही लाटू की महान् साधना थी और उनकी छोटी से छोटी इच्छा लाटू के लिये आदेश के समान थी। एक दिन शाम को दिनभर के कामों से थक कर लाटू शाम को सो रहे थे। जब श्रीरामकृष्ण की नजर उनपर पड़ी तो उन्होंने लाटू को जगाकर समझाया, "अगर तुम इस समय सोओगे तो फिर ध्यान-साधना कब करोगे?" लाटू के लिए ठाकुर का इतना कहना ही पर्याप्त था। इसके बाद उन्होंने रात में सोना ही त्याग दिया। वे दिन में भोजन के बाद थोड़ी देर सो लेते थे और रात भर ध्यान-जप में लगे रहते थे।

अब उनके सामने दो ही लक्ष्य थे। दिनभर श्रीरामकृष्ण की सेवा करना और रात्रि में आत्म-साक्षात्कार के लिए कठिन साधना करना। उन्होंने श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक उच्चता पर तर्क-वितर्क नहीं किया। उनकी सेवा ही उनका परम काम्य था। इसी प्रवृत्ति ने उनके आभ्यन्तर को परिवर्तित करना प्रारम्भ कर दिया। वे धीरे-धीरे उच्चतर आध्यात्मिक सोपानों पर आरोहण करने लगे। श्रीरामकृष्ण ने उनसे एक बार कहा था कि "भगवान् सुई के छेद में से ऊँट को निकाल सकते हैं।" लाटू ने उनके इस कथन का रहस्य जान लिया था। वे समझते थे कि वे अयोग्य तो हैं पर भगवान् कृपापूर्वक उनके जीवन को ही परिवर्तित कर रहे हैं।

श्रीरामकृष्ण के प्रति लाटू का वही भाव था जो हनुमान का भगवान् राम के प्रति था। अपनी इसी अपार श्रद्धा के बल पर उन्हें अनेकानेक आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हुई थीं और वे देह-भान भूलकर परमतत्त्व में स्थित हो सके थे। उनके जीवन के अनेक प्रसंगों से उनकी घनीभूत आध्यात्मिकता का यत्किंचित् परिचय मिल जाता है। एक बार वे गंगा के किनारे ध्यान कर रहे थे। थोड़ी ही देर में वे देह-भान भुलाकर प्रगाढ़ ध्यान में निमग्न हो गये। दिन ढल गया और शाम भी हो गयी पर उनका ध्यान नहीं टूटा। इतने में गंगा में जोरों से ज्वार आयी। नदी का जल उनके चारों ओर से प्रवाहित होने लगा पर वे वैसे ही ध्यान में बैठे रहे। जब यह समाचार श्रीरामकृष्ण तक पहुँचा तो वे

तुरन्त गंगा के किनारे पहुँचे और उनका नाम लेकर पुकारा। तब कहीं उनका ध्यान टूटा।

इसी प्रकार वे एक दिन दोपहर को दक्षिणेश्वर के शिव मंदिर में ध्यान कर रहे थे। शाम बीत गयी पर वे अपने ध्यान से नहीं उठे। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें ढूँढ़ने के लिए भक्तों से कहा। एक भक्त ने आकर बताया कि लाटू शिव मन्दिर में गहरी समाधि में लीन हैं। श्रीरामकृष्ण स्वयं वहाँ गये। उन्होंने देखा कि लाटू का शरीर निष्पन्द हो गया है और वे पसीने-पसीने हो गये हैं। श्रीरामकृष्ण पंखा लेकर उन्हें हवा करने लगे। बहुत देर के बाद लाटू का ध्यान टूटा। जब उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण उन्हें पंखा झल रहे हैं तो उन्हें स्वयं पर बहुत क्षोभ हुआ और वे आत्मग्लानि से भर उठे। पर श्रीरामकृष्ण के मृदु वचनों से उनका दुःख कुछ कम हुआ। इस समय लाटू दिनरात आध्यात्मिक भावदशा में रहा करते थे।

लाटू महाराज भजन-कीर्तन के बड़े प्रेमी थे। जब वे रामचन्द्र दत्त के घर में थे तो मौका मिलते ही कीर्तन-दल में सम्मिलित हो जाया करते। दक्षिणेश्वर में भी वे यथा-सम्भव प्रत्येक कीर्तन के समय उपस्थित रहते थे। कीर्तन करते-करते वे प्रायः भाव-समाधि में लीन हो जाया करते थे। एक बार वे कुछ भक्तों के साथ 'गोलोकधाम' (साँप-सीढ़ी का खेल) खेल रहे थे। इस खेल में प्रत्येक खिलाड़ी को अपनी गोटी 'गोलोक' या स्वर्ग में पहुँचानी होती है। जब लाटू की गोटी गोलोक में पहुँची तो वे अत्यन्त हर्षित

हो उठे। श्रीरामकृष्ण इन्हें खेलते हुए देख रहे थे। लाटू की प्रसन्नता को देखकर उन्होंने कहा कि लाटू को इसलिये अत्यधिक आनन्द हो रहा है कि उसमें मुक्त होने की इच्छा बड़ी गहरी है।

लाटू श्रीरामकृष्ण के प्रमुख सेवक थे। गले कि व्याधि से पीड़ित होने पर जब श्रीरामकृष्ण को श्यामपुकुर और काशीपुर ले जाया गया तब लाटू छाया के समान उनके साथ रहकर उनकी सेवा करते रहे। लाटू श्रीरामकृष्णदेव के उन अंतरंग शिष्यों में से एक थे जिन्हें श्रीरामकृष्ण ने संन्यास के प्रतीक के रूप में गेरुवा कपड़ा प्रदान किया था। कालान्तर में उन्होंने अन्य गुरुभाइयों के साथ विधिवत् संन्यास ग्रहण किया और उन्हें स्वामी अद्भुतानन्द नाम प्रदान किया गया क्योंकि वे श्रीरामकृष्णदेव के सभी शिष्यों में विलक्षण और अद्भुत थे।

श्रीरामकृष्णदेव ने लाटू से एक अवसर पर कहा था, "ईश्वर को दिन-रात स्मरण करते रहना, क्षणमात्र के लिये भी मत भूलना।" लाटू ने इस भरत-वाक्य को अपने जीवन में उतार लिया था। वे अन्य समस्त साधनों की अपेक्षा इष्टदेव के नाम-जप पर अत्यधिक जोर देते थे। उनके पास जो भक्त मार्ग-दर्शन की इच्छा से आते थे उन्हें वे यही सलाह देते थे। एक बार एक भक्त ने पूछा—"महाराज, हम ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण कैसे कर सकते हैं जिसे हमने देखा ही नहीं है?" लाटू महाराज ने उत्तर दिया—"अगर तुमने

उन्हें नहीं देखा है तो क्या हुआ ? तुम उनका नाम तो जानते हो। उनके नाम का जप करो और इसीसे तुम्हारा आध्यात्मिक विकास होने लगेगा। दफ्तर में लोग क्या करते हैं, जानते हो ? बहुत से लोग साहब को नहीं पहचानते। पर वे उनके पास अर्जी भेजते हैं। इसीप्रकार तुम भी भगवान् के पास अपनी अर्जी भेजो। तुमपर उनकी कृपा अवश्य होगी।"

कह चुके हैं कि लाटू महाराज आध्यात्मिक साधनाओं के साथ प्रमुख रूप से ठाकुर की सेवा में संलग्न रहा करते थे। एक भक्त ने बाद में उनसे जिज्ञासा की थी—"जब श्रीरामकृष्णदेव के शिष्य उनकी इतनी सेवा करते थे तब उन्हें ध्यान-जप का समय कैसे मिलता रहा होगा ?" लाटू महाराज ने उत्तर दिया था, "उनकी (ठाकुर की) सेवा ही हमारी सबसे बड़ी पूजा थी।"

श्रीरामकृष्ण के तिरोधान के बाद लाटू महाराज का पूरा ध्यान श्री माँ सारदा पर केन्द्रित हो गया। वे श्री माँ पर असीम श्रद्धा करते थे और श्री माँ भी उनसे पुत्रवत् स्नेह करती थीं। जब श्री माँ दक्षिणेश्वर में कठिन साधना कर रही थीं तब लाटू ही उनके सेवक थे। श्री माँ का लालन-पालन ग्रामीण परिवेश में हुआ था इसलिये वे अतिशय लज्जाशीला थीं और श्रीरामकृष्णदेव के कुछ ही बाल-भक्तों से वार्तालाप करती थीं। लाटू बहुत छोटे थे। इसलिये श्री माँ उनसे खुलकर बातें करती थीं। श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण के उपरान्त श्री माँ जब वृन्दावन गयीं तब लाटू भी उनके साथ थे।

वृन्दावन से लौटने के उपरान्त वे वराहनगर मठ में अपने गुरुभाइयों के साथ ध्यान और साधना में लग गये। उनकी साधना के क्रम में किसी भी प्रकार से बाधा नहीं पड़ सकती थी। रुग्णावस्था में भी वे नियमपूर्वक ध्यान के लिये बैठा करते। एक बार वराहनगर मठ में उन्हें निमोनिया का रोग हो गया। रोग ने उनके शरीर को इतना जर्जर बना दिया कि वे स्वयं उठ-बैठ भी नहीं पाते थे। इतना होते हुए भी वे सन्ध्या के समय अपने गुरुभाई को सहारा देकर उठाने के लिये कहते ताकि वे ध्यान के लिये बैठ सकें। जब उन्हें कहा जाता कि डाक्टर ने उन्हें उठने से मना किया है तो वे कहते—"डाक्टर क्या जानेगा? यह तो ठाकुर की आज्ञा है और इसे पूरा होना ही चाहिये।"

वराहनगर मठ में लाटू महाराज डेढ़ वर्ष तक कठिन साधना करते रहे। वे नानाविध आध्यात्मिक साधनाओं में इतने लीन थे कि उन्हें भोजनादि की सुध नहीं रहती थी। उनका भोजन उनके कमरे में ही भेज दिया जाता था पर वे रात तक उसे छूते भी नहीं थे। रात को जब सब सोने लगते तब लाटू महाराज भी सोने का बहाना करके पड़े रहते। दूसरों के सो जाने पर वे उठ बैठते और सारी रात भगवन्नाम के जाप में बिता दिया करते। एक बार एक मनोरंजक घटना हो गयी। एक रात को जब सभी लोग सो गये तो कुछ आवाज होने लगी। स्वामी सारदानन्द जी ने सोचा कि शायद वहाँ कोई छुछूंदर आ गया है। वे उसे भगाने के लिये उठे और दिया जलाकर खोजने

लगे। छुछूंदर तो नहीं मिला पर उन्होंने देखा कि लाटू महाराज ध्यानस्थ बैठे हैं और उनके होठों से अस्फुट स्वर में इष्टमंत्र का जाप हो रहा है!

लाटू महाराज का समस्त जीवन तपस्यामय हो गया था। वे श्रीभगवान् के चिन्तन में इतने निमग्न हो गये थे कि दैहिक आवश्यकताएँ उनके मन को सामान्य धरातल पर उतारने में असमर्थ हो गयी थीं। वे भीड़-भाड़ और शोरगुल से भरी हुई जगह में भी इष्टचिन्तन में लीन हो जाया करते थे। गंगा का तट उनकी तपस्या की जगह थी। एक बार वे गंगा के किनारे ध्यान कर रहे थे कि जोरों से वर्षा होने लगी। थोड़ी ही दूर में मालगाड़ी के डिब्बे खड़े थे। लाटू महाराज वहाँ पहुँचे और एक खाली डिब्बे में ध्यान में बैठ गये। काफी देर के बाद उस डिब्बे से इंजिन जुड़ा और वह उसे लेकर चल पड़ा। पर इंजिन का शोरगुल और झटका लाटू महाराज के ध्यान को भंग नहीं कर सका। जब उनका ध्यान टूटा तो उन्हें ज्ञात हुआ कि वे कलकत्ता से काफी दूर चले आये हैं। वे अगले स्टेशन पर उतरकर पैदल ही दक्षिणेश्वर लौटे।

लाटू महाराज की शक्ति का रहस्य यह था कि वे श्रीरामकृष्णदेव के प्रति ऐकान्तिक रूप से समर्पित थे। वे समझते थे कि श्री ठाकुर ही उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। यह विचार उन्हें अधिक तीव्रता से अन्तर्मुखी बना देता था। वे भक्तों को यही उपदेश देते थे कि वे ऐकान्तिक रूप से अपने आप को ईश्वर के पादाम्बुजों

में समर्पित कर दें। वे उनसे कहते—"तुम लोगों का ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव बहुत कमजोर है। अगर तुम्हें मनोनुकूल फल शीघ्र ही नहीं मिला तो तुम दो दिन में ही ईश्वर को त्यागकर अपने मन के मुताबिक चलने लगोगे, मानों तुम ईश्वर से भी ज्यादा समझदार हो। कठिन से कठिन विपदाओं के बीच भी अटल विश्वास को धारण करना वास्तविक आत्मसमर्पण है।" लाटू महाराज के जीवन में यह आत्मसमर्पण मूर्त हो उठा था। संसार की कोई भी वस्तु उनके विश्वास को नहीं हिला सकी।

लाटू महाराज का परवर्ती जीवन दक्षिणेश्वर के आस-पास ही बीता। वे १८६५ में पुरी की यात्रा करने गये थे। सन् १६०३ में वे पुनः पुरी गये और वहाँ उन्होंने एक माह निवास किया। इसी समय उन्होंने बनारस, इलाहाबाद और वृन्दावन की भी यात्रा की थी। स्वामी विवेकानन्द जी से भेंट होने पर वे उनके साथ काश्मीर और राजपुताना भी गये थे। पुरी में उन्होंने भगवान् से दो वरदान माँगे थे। उन्होंने पहला वरदान यह माँगा था कि वे बिना भ्रमण का अभ्यास किये ध्यान और आध्यात्मिक साधनाओं में लीन रह सकें और दूसरा यह कि उनका हाजमा तेज हो। जब गुरुभाइयों ने उनकी दूसरी कामना के बारे में प्रश्न किया तो लाटू महाराज ने समझाते हुए बताया—"यह संन्यासी जीवन के लिए बहुत आवश्यक है। संन्यासी को कब कैसा भोजन मिलेगा इसका कोई ठिकाना नहीं रहता। अगर उसका हाजमा ठीक हो तो वह कुछ भी

खाकर उसे पचा सकता है। इस तरह वह अपना स्वास्थ्य ठीक रखकर अपनी शक्ति आध्यात्मिक साधना में लगा सकता है।"

अन्तर्मुखी वृत्ति की प्रधानता के कारण यद्यपि लाटू महाराज श्रीरामकृष्ण मठ के कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से योगदान नहीं कर सके थे पर वे अपने गुरुभाइयों से अत्यधिक स्नेह करते थे। वे स्वामी विवेकानन्द के पूर्व नाम 'नरेन्द्र' का उच्चारण नहीं कर पाते थे और उन्हें आदरपूर्वक 'लोरेन भाई' कहा करते थे। स्वामी विवेकानन्द ने लोककल्याण का जो विस्तृत कार्यक्रम अपने गुरुभाइयों के लिये निर्धारित किया था उसमें लाटू महाराज भाग नहीं ले सकते थे। क्योंकि उनका मन सदैव ईश्वर में निमग्न रहा करता था। इसके बावजूद वे स्वामी विवेकानन्द से अत्यधिक स्नेह करते थे। वे कहा करते थे—"अगर मुझे लोरेन भाई का साथ मिले तो मैं सैकडों बार जन्म ग्रहण कर सकता हूँ।" इसीप्रकार स्वामी विवेकानन्द भी लाटू महाराज को बहुत अधिक चाहते थे। अमेरिका से जब वे कलकत्ता लौटे तो उन्हें लाटू महाराज दिखायी नहीं पड़े। उन्होंने उनकी खोज करायी। कुछ दिन बीतने पर जब लाटू महाराज उनके पास आये तब स्वामी जी ने उनसे पूछा कि वे पहले उनसे मिलने क्यों नहीं आये। तब लाटू महाराज ने सरलतापूर्वक उत्तर दिया-"लोरेन भाई, मैं तुम्हारी संगत के काबिल नहीं हूँ।" स्वामी विवेकानन्द का हृदय भर आया और उन्होंने लाटू महाराज को अपने

हृदय से लगा लिया और भावोच्छ्वासित शब्दों में' कह उठे—"तुम सदा मेरे लाटू भाई रहोगे और मैं सदैव तुम्हारा लोरेन भाई रहूँगा !" लाटू महाराज का व्यवहार बच्चे के सामान था और वे बड़े स्पष्टवादी थे। इसलिये सभी गुरुभाई उनसे अत्यधिक स्नेह करते थे। यद्यपि उनकी सरलता को लेकर उनके गुरुभाई उनसे कभी-कभी परिहास कर लिया करते थे पर लाटू महाराज की आध्यात्मिक उच्चता के प्रति उनके मन में बड़ा आदर भाव था।

लाटू महाराज का अपना बिशेष नियम था। वे बँधे-बँधाये नियमों के अनुरूप नहीं चल सकते थे। एक बार बेलुड़ मठ में स्वामी विवेकानन्द जी ने घोषणा की कि प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में एक घण्टी बजा करेगी और सभी आश्रमवासियों को उस समय ध्यान के लिये बैठना होगा। दूसरे दिन सबेरे से ही लाटू महाराज ने अपना बोरिया-बिस्तर बाँध लिया और वहाँ से जाने की तैयारी करने लगे। जब स्वामी जी ने उन्हें देखा और एकाएक उनके जाने का कारण पूछा, तो लाटू महाराज ने अपने सहज-सरल ढंग से जवाब दिया—"लोरेन भाई, मेरा मन इतना ऊँचा नहीं है कि मैं तुम्हारी घण्टी की आवाज सुनते ही ध्यान करने के लिये अपने आप को तैयार कर सकूँ। मैं तुम्हारे निश्चित समय पर ध्यान करने के लिये नहीं बैठ सकता।" तब स्वामी जी ने उनके लिये अपने नियम से छूट दे दी। स्वामी जी लाटू महाराज को बहुत प्रेम करते थे और उन्हें

'प्लेटो' कहा करते थे। कभी-कभी लाटू महाराज और स्वामी जी के बीच मनोरंजक प्रसंग भी उपस्थित हो जाते थे। काश्मीर भ्रमण के समय स्वामी जी के साथ लाटू भी थे। स्वामी जी एक मंदिर का दर्शन करने गये और वहाँ उन्होंने बताया कि वह मंदिर दो-तीन हजार साल पुराना है। लाटू महाराज ने पूछा कि वे ऐसा कैसे कह सकते हैं? तब स्वामी जी ने उत्तर दिया — "मेरे लिये इस बात को तुम्हें समझाना बहुत कठिन है। अगर तुम पढ़े-लिखे होते तो मैं तुम्हें समझा सकता था।" लाटू महाराज ने तुरन्त जवाब दिया — "वाह। यही तुम्हारी शिक्षा है जिससे तुम मेरे जैसे अपढ़ को भी नहीं समझा सकते?" उनके इस तर्क को सुनकर हँसी की लहर उठ गयी।

सन् १९०३ में बलराम बोस के घर में लाटू महाराज रहने चले गये। वे वहाँ सन् १९१२ तक पूरे नौ साल रहे। पहले तो वे घरवालों की असुविधा का विचार कर वहाँ नहीं जाना चाहते थे पर उनके अत्यधिक आग्रह को देखकर उन्हें वहाँ रहना पड़ा। इस घर में भी लाटू महाराज बड़ी तितिक्षा से जीवन-यापन किया करते थे। वे स्वभावतः ही एकान्त प्रेमी और मितभाषी थे। उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों की सुरभि चारों ओर फैल गयी थी और भक्त गण उनका दर्शन-श्रवण करने के लिये आने लगे थे। यद्यपि लाटू महाराज बाहर से रूखे प्रतीत होते थे किन्तु उनके हृदय में प्रेम का पारावार लबालब भरा था। वे उपदेश देना पसंद नहीं करते थे, पर जो उनके पास

अपनी कठिनाइयों को लेकर आता और मार्ग-दर्शन की याचना करता तो लाटू महाराज से उसे अपार सहानुभूति, सांत्वना और प्रेरणा मिलती थी। एक बार उन्होंने एक शराबी के हाथों से खाद्यान्न ग्रहण कर उसे संतोष प्रदान किया था और एक अन्य अवसर पर उन्होंने पानी से भीगे हुए व्यक्ति को अपने वस्त्र प्रदान कर अपनी अतुल करुणा का परिचय दिया था।

यद्यपि लाटू महाराज ने अपनी आध्यात्मिकता का सयत्न गोपन किया था। पर भक्तवृन्द निरन्तर उनकी ओर आकर्षित हो रहे थे। यद्यपि वे अपढ़ थे पर वे आध्यात्मिक समस्याओं का अपनी अनुभूतियों के बल पर सरलता से उत्तर दे दिया करते थे। एक बार उनके पास दो विदेशी महिलाएँ आयीं। वे परोपकार के कार्यों पर आस्था रखती थीं पर उनका ईश्वर पर कोई विश्वास नहीं था। जब उन्होंने लाटू महाराज से इस सम्बन्ध में चर्चा की तो लाटू महाराज बोले—"तुम दूसरों का हित क्यों करती हो? इससे तुम्हारा क्या लाभ होगा? अगर तुम्हारा ईश्वर पर विश्वास न हो तो तुम इस प्रश्न का युक्तिपूर्ण उत्तर नहीं दे सकतीं। परोपकार के कार्यों से समाज का हित-साधन होता है। पर तुम यह सिद्ध नहीं कर सकतीं कि इससे तुम्हें भी लाभ पहुँचेगा। कुछ समय के बाद तुम इस कार्य से ऊब उठोगी क्योंकि इससे तुम्हारा स्वार्थ साधन नहीं होगा। इसके विपरीत अगर तुम ईश्वर पर विश्वास करती हो तो कार्य के प्रति तुम्हारी

रुचि बनी रहेगी क्योंकि तब तुम्हें इस तत्व का ज्ञान होगा कि जो ईश्वर तुममें है वही अन्य लोगों में भी विद्यमान है।" एक महिला ने प्रश्न किया—"क्या आप इसे सिद्ध कर सकते हैं ?" लाटू महाराज ने जवाब दिया-"अवश्य, पर यह व्यक्ति के निजी अनुभव की बात है। कोई दूसरा व्यक्ति प्रेम की व्याख्या नहीं कर सकता। प्रेम को वही जानता है जो प्रेम करता है। यही बात भगवान् के बारे में भी लागू होती है। भगवान् को वही जानता है जिसे भगवान् कृपापूर्वक अपना दर्शन देते हैं। अन्य लोगों के लिये भगवान् पहेली बने रहते हैं।"

एक भक्त ने लाटू महाराज से पूछा—"यह कैसे सम्भव है कि मैं स्वयं को आत्मा मानूँ ? मैं तो ससीम हूँ और आत्मा असीम है।" लाटू महाराज ने कहा—"इसमें भला क्या कठिनाई है ? क्या तुमने जुही का फूल नहीं देखा है ? जुही की पँखुड़ियाँ बहुत छोटी होती हैं। पर जब उन नन्हीं पँखुड़ियों में ओस की बूँदें पड़ती हैं तो उनमें असीम आकाश प्रतिबिम्बित हो उठता है। इसी प्रकार ईश्वर की कृपा से यह ससीम जीव भी असीम को प्रतिबिम्बित कर सकता है।"

यद्यपि स्वामी अद्भुतानन्द पुस्तकीय ज्ञान से रहित थे पर उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियाँ इतनी गहरी थीं कि उन्हें शास्त्रों के मर्म को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। वे शास्त्रवर्णित अनुभूतियों को अपनी स्वतः की अनुभूतियों के बल पर प्रमाणित कर सकते थे। एक बार

एक प्रवचनकार कठोपनिषद् पर प्रवचन कर रहे थे। वे कठ उपनिषद् के एक श्लोक की व्याख्या करते हुए बता रहे थे कि "अंगूठे के आकार का पुरुष जीव के अन्तराल में निवास करता है। व्यक्ति को चाहिये कि वह अत्यन्त धैर्यपूर्वक उसे शरीर से वैसे ही अलग कर ले जैसे कि तिनके को डण्ठल से अलग किया जाता है।" इसे सुनकर स्वामी अद्भुतानन्द बोल उठे—"हाँ हाँ, बिलकुल ऐसा ही है।" मानो वे अपनी स्वतः की अनुभूति के साथ शास्त्रोक्त अनुभूति का मिलान कर रहे हों।

स्वामी अद्भुतानन्द आत्मनिष्ठ मनीषी थे। यद्यपि उन्होंने किसी को अपना शिष्य नहीं बनाया था पर लोग आप-से-आप उनके समीप आकर प्रेरणा प्राप्त करते थे। १६१२ में वे वाराणसी में कठिन तपश्चर्या में लीन थे। आत्ममुखी होने के कारण वे यदाकदा ही आत्मिक चर्चा किया करते थे। कठिन तितिक्षा से उनका पुष्ट शरीर ढलता जा रहा था। अन्तिम वर्षों में उन्हें डिस्पेप्सिया की बीमारी हो गयी थी। पर उन्हें शरीर की तनिक भी चिन्ता नहीं थी। वे कहा करते थे कि "शरीर धारण करना भी एक मुसीबत है।" अंत-अंत में उनके पैर में एक फोड़ा हो गया जो आगे चलकर गैंग्रीन हो गया। रोज उसका आपरेशन किया जाता था। पर स्वामी अद्भुतानन्द कभी भी पीड़ा की अभिव्यक्ति नहीं करते थे। उनका मन इतनी ऊँचाई पर स्थित था जहाँ शरीर की माँग और उसकी तकलीफ उसे नीचे नहीं उतार पाते थे। २४ अप्रेल

सन् १९२० में श्रीरामकृष्ण देव के इस अद्भुत शिष्य ने महासमाधि ग्रहण कर ली।

स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि "लाटू श्रीरामकृष्ण के महत्तम चमत्कार हैं। निरक्षर भट्टाचार्य होते हुए भी उन्हें ठाकुर के स्पर्श मात्र से परम ज्ञान की प्राप्ति हो गयी थी।" एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा था — "हमारे गुरुदेव मौलिक थे और उनके सभी शिष्य मौलिक हैं। लाटू को ही लो। निर्धन परिवार में जन्म लेकर भी उसने वह आध्यात्मिक ऊँचाई प्राप्त की है जो अनेक साधकों के लिये दुर्लभ है। हम लोग तो पढ़-लिख कर आये थे। यह बड़ा लाभ था। जब हम निराश होते थे या जीवन की एकरूपता हमें उबा देती थी तब हम पुस्तकों को पढ़कर प्रेरणा प्राप्त करते थे। परन्तु लाटू के पास मन को अन्यत्र लगाने का ऐसा कोई साधन नहीं था। उसने अपनी एकाग्र भक्ति के द्वारा ही अपने जीवन को अतिशय उदात्त बना लिया। यह उसकी गहन आध्यात्मिकता का परिचय देती है।" श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि जब चिदालोक की एक किरण आती है तो समस्त पुस्तकीय ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। स्वामी अद्भुतानन्द जी का जीवन इस सत्य का जीवन्त विग्रह था।

—०—

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

दूसरे दिन स्वामीजी विश्वमेला देखने के लिए गये। मीलों दूर तक फैले हुए क्षेत्र में मेले का आयोजन किया गया था। उसकी भव्यता और विशालता को देख वे ठगे से रह गये। विस्मय से वाणी मूक हो गई। विस्फारित नेत्रों से वे मानव मस्तिष्क द्वारा निर्मित इस विराट आयोजन को देखते रहे, जो मानव सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास की कहानी कह रहा था। संसार की सर्वोत्तम वस्तुएँ वहाँ प्रदर्शन के लिए रखी गई थीं। विज्ञान के चमत्कार पूर्ण आविष्कार अपनी कहानी आप कह रहे थे। क्या कला, क्या साहित्य, क्या शिल्प और क्या विज्ञान सबका अभूतपूर्व समायोजन किया गया था। उस मेले में न केवल भौतिकता में अग्रणी प्रगतिशील देशों की भौतिक उपलब्धियों का समावेश था, वरन् संसार के पिछड़े देशों की सभ्यता और रहन सहन बड़े बड़े माडलों के द्वारा दिखलाई गई थी। स्वामी जी का उर्वर तथा तीक्ष्ण भावग्राही मस्तिष्क इस विपुल ज्ञानभंडार को आत्मसात् करने के लिए उत्सुक हो गया। वे बारह दिन शिकागो में रहे। प्रतिदिन प्रातःकाल ही वे मेले में चले जाते। दिन भर घूम घूम कर विभिन्न देशों की सभ्यता और संस्कृति की

जानकारी हासिल करते, विज्ञान के आधुनिक आविष्कारों का ज्ञान प्राप्त करते, और सायंकाल थकावट से चूर चूर हो अपने होटल में लौट आते। उस अपार जन समुदाय में, लक्ष लक्ष नर नारियों के बीच, वे अपने को बन्धुविहीन, अपरिचित और अत्यन्त एकाकी महसूस करते।

परन्तु उनकी तेजस्विता, आकर्षक व्यक्तित्व और अनोखी वेशभूषा लोगों की दृष्टि में छिपी नहीं रही। वे जिधर से निकलते, स्वयं आकर्षण का केन्द्र बन जाते। लोग उन्हें घेर लेते। अजीबो गरीब सवालों का अंबार लगा देते। और वे निर्भीकता से उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे। इस प्रकार अनेक उनके परिचित हो गये थे। पर यह परिचय महज औपचारिकता मात्र थी। वे जान गए थे कि विदेशी के प्रति उन लोगों की यह मित्रता केवल दूसरों को दिखाने के लिए है। जहाँ धन से सहायता करने का समय आता है उस समय वे मुँह मोड़ लेते हैं। अपने भारतीय वस्त्रों के कारण उन्हें बड़ी मुसीबतें झेलनी पड़ीं। जगह जगह उनपर फब्तियाँ कसी जातीं। पीछे से वस्त्र खींचे जाते। यहाँ तक कि उनपर पत्थर फेंके जाते। अपनी सभ्यता और संस्कृति का दंभ भरने वाले अमरीकनों में इतनी सहिष्णुता नहीं थी कि वे किसी विदेशी को उसके अपने देश की वेशभूषा में देख सकें। उनका सौहार्द्र्य वहीं तक सीमित था जहाँ तक लोग उनका अनुकरण करें। बस, उसके बाद उनकी सद्भावना समाप्त हो जाती थी, उनका सारा बन्धुत्व खत्म हो जाता था। एक दिन

स्वामीजी मेले में जब घूम रहे थे तब किसी ने जोरों से धक्का देते हुए उनका वस्त्र खींचा। उन्होंने पीछे मुड़कर देखा। सुन्दर कपड़ों में सज्जित एक व्यक्ति उनकी ओर कुटिल मुस्कान लिए देख रहा था। स्वामीजी ने अंग्रेजी में संयत स्वर में उनके इस दुर्व्यवहार का कारण पूछा। उन्हें विशुद्ध अंग्रेजी में बात करते देख उस व्यक्ति की मुद्रा बदल गयी और उसने क्षमा माँगते हुए कहा, "आप ऐसे वस्त्र क्यों पहनते हैं ?"

पत्रकारों और संवाददाताओं से वे कम परेशान न थे। भारत के बारे में उनकी बड़ी भ्रमपूर्ण धारणाएँ थी। वे अपने ऊलजुलूल प्रश्नों से उन्हें परेशान कर डालते थे। कई तो उनका आकर्षक व्यक्तित्व देख उन्हें राजा समझ बैठते थे। एक दिन मेले में बड़ी मजेदार घटना हुई। भारत के कपूरथला के राजा शिकागो आये हुए थे। पश्चिमी सभ्यता में रँगे इन राजा को शिकागो समाज के कुछ व्यक्ति आसमान पर चढ़ा रहे थे। मेले में राजा के साथ स्वामीजी की मुलाकात हुई। स्वामीजी अपने एक स्वदेश-वासी को देख बड़े प्रसन्न हुए और उनसे बातचीत करनी चाही। पर धन और बड़प्पन के अभिमान में चूर उस राजा को कैसे गवारा होता कि वह एक फकीर से बात करे! पास ही एक सनकी-सा महाराष्ट्रीय ब्राह्मण खड़ा हुआ कागज पर नाखून के सहारे बनी हुई तस्वीरें बेच रहा था। उसने समाचार पत्रों के संवाददाताओं के पास जाकर उस राजा के विरुद्ध तरह तरह की बातें कह डालीं। उसने कहा

कि यह राजा नीच जाति का है। ये लोग गुलाम के सिवा और कुछ नहीं हैं तथा बहुधा दुराचारी होते हैं इत्यादि। वहाँ के तथाकथित सत्यवादी (?) संपादकों ने इस व्यक्ति की बातों को नितान्त नया रूप देते हुए अपने अखबार के कई स्तंभ भर डाले जिसमें उन्होंने भारत से पहुँचे हुए महात्मा का, जिसका तात्पर्य स्वामीजी से था, विशद वर्णन किया और उनकी प्रशंसा के पुल बाँध दिये। उसमें उन्होंने उनके (स्वामीजी के) मुखसे ऐसी बातें कहलाईं जिनकी स्वामीजी ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। उस महाराष्ट्रीय ब्राह्मण ने राजा के बारे में जो कुछ कहा था, वह सब स्वामी जी के मुख से निकला हुआ बताया गया। अखबारों ने उस राजा की ऐसी मिट्टी खराब की, कि शिकागो समाज ने राजा को तुरन्त त्याग दिया। जन मानस पर समाचार पत्रों का यह प्रभाव देखकर स्वामीजी को ऐसा लगा कि इस देश में धन या उपाधियों की चमक दमक की अपेक्षा बुद्धि का सम्मान अधिक है।

शिकागो पहुँचने के बाद स्वामीजी विश्व धर्म सम्मेलन के बारे में निश्चिन्त से हो गये थे। एक दिन घूमते घूमते मेले के सूचना-प्रसारण कार्यालय में पहुँचे। वहाँ उन्होंने धर्ममहासभा के बारे में विस्तृत जानकारी लेनी चाही। यह पूछने पर कि धर्ममहासभा कब से प्रारंभ होगी, उन्हें अप्रत्याशित उत्तर मिला कि वह सितंबर के दूसरे सप्ताह के पूर्व प्रारंभ नहीं होगा। इससे भी दुर्भाग्यपूर्ण संवाद यह मिला कि महासभा में उन्हीं प्रतिनिधियों को सम्मिलित किया

जायेगा जिनके पास किसी धार्मिक संस्था द्वारा प्रदत्त परिचय पत्र होगा। पर अब तो इसका भी प्रश्न नहीं उठता था क्योंकि प्रतिनिधि के रूप में नाम देने की अवधि बीत चुकी थी। इस सूचना ने उन्हें नैराश्य-सागर में डुबो दिया। उनकी समस्त आशाओं पर तुषारापात हो गया। कितनी आशा और विश्वास सँजोकर वे आये थे कि इस धर्ममहासभा के माध्यम से अपने देश की महान् गरिमा और आध्यात्मिकता से वे पश्चिम के इस भौतिकवादी राष्ट्र को परिचित करायेंगे तथा अपने गिरे हुए देश को उठाने के लिए उनसे भौतिक सहायता प्राप्त करेंगे। पर अब तो वह सब धूमिल हो गया। उनके सामने अनिश्चितता मुँह बाकर खड़ी होगई। कितनी भयंकर भूल हो गई उनसे, जो बिना किसी परिचय पत्र के इतनी दूर चले आये। उस समय यह छोटीसी बात उनके और उनके भक्तों के भी मन में नहीं आई कि प्रतिनिधि किसी धर्म अथवा संस्था का होता है, अपने आपका नहीं होता, और इसलिए उनके लिए परिचय पत्र होना आवश्यक है। यह सब सोचकर उनका मन उद्विग्न हो उठा। सचमुच में उनके शिष्यों और भक्तों ने धर्म महासभा के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं की थी। उन्हें स्वामीजी के कर्त्तृत्व पर, उनकी अपौरुषेय शक्ति पर ऐसी अटूट श्रद्धा थी कि उन्होंने इसकी आवश्यकता ही नहीं समझी थी। "उन्होंने सोचा था," जैसा कि भगिनी निवेदिता ने लिखा है, "विवेकानन्द को मात्र वहाँ उपस्थित होना होगा और उन्हें समस्त सुयोग्य अवसर प्राप्त हो जायेंगे। संसार की

रीति नीति से जैसे अनभिज्ञ उनके शिष्य थे वैसे ही स्वामी जी भी थे। और उन्हें भी जब यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि उनके इस प्रयत्न के पीछे प्रभु का वरद हस्त है, तब मार्ग के विघ्नों की बात ही नहीं सूझी थी। हिन्दू धर्म की अव्यवस्थित संघवद्धता में जितना वैचित्र्य है, उससे भी कहीं अधिक विचित्रता उसके इस अनजाने प्रतिनिधि में है जो बिना किसी परिचय पत्र के संसार के सर्वाधिक धनी और शक्ति सम्पन्न राष्ट्र के सुरक्षित दरवाजे से प्रवेश करना चाहता है।"

वह जुलाई का अंतिम सप्ताह था। धर्ममहासभा के प्रारंभ होने में पूरे डेढ़ महीने थे। अगर वे मात्र दर्शक के ही रूप में उसमें उपस्थित रहना चाहते, तो उन्हें डेढ़ महीने रुकना पड़ता। पर यह उनके लिए असंभव सा प्रतीत हुआ। क्योंकि उनके पास बहुत कम द्रव्य शेष रह गया था। जो कुछ बचा था, वह भी तेजी के साथ समाप्त हो रहा था। शिकागो का जीवन बड़ा खर्चीला था। वस्तुओं के दाम आसमान छू रहे थे। ऐसी अवस्था में वहाँ इतने दिन बिताना असंभव था। द्रव्य के अभाव में वे भारत भी नहीं लौट सकते थे। बड़ी ही भयावह परिस्थिति थी। एक एक करके बारह दिन बीत गए। धीरे धीरे उनके पास का पैसा खत्म होने पर आ गया। अपनी दुरावस्था और मनो-दशा का वर्णन उन्होंने भारत लौटने पर, मद्रास के "मेरी समरनीति" नामक अपने सुप्रसिद्ध व्याख्यान में किया था—"धर्म महासभा के कई महीने पहले ही मैं अमेरिका

पहुँच गया था। मेरे पास रुपये बहुत कम थे, और वे शीघ्र ही समाप्त होने लगे। इधर जाड़ा भी आ गया। मेरे पास सिर्फ गरमी के कपड़े थे। उस भयानक ठंडे देश में, आखिर मैं क्या करूँ, यह कुछ सूझता नहीं था। यदि मैं रास्ते में भीख मांगने लगता तो परिणाम यही होता कि मैं जेल भेज दिया जाता। उस समय मेरे पास मात्र कुछ डालर बच रहे थे।"

ऐसी विषम परिस्थिति में किसी ने स्वामीजी को बताया कि बोस्टन अपेक्षा कृत कम खर्चीला है। स्वामीजी ने वहीं जाने का निश्चय किया। इतनी तकलीफों के बावजूद भी वे दृढ़संकल्प थे कि सरलता से वे अमेरिका नहीं छोड़ेंगे। अपनी पूरी कोशिश करेंगे। और यदि कहीं वहाँ असफलता हाथ लगी तो इंग्लैंड जाकर प्रयत्न करेंगे। वहाँ भी असफल होने पर भारत वापस जाकर ईश्वरीय आदेश की बाट जोहेंगे। इस तरह अपने में दृढ़ आशा और विश्वास ले वे बोस्टन को रवाना हुए। ट्रेन में उनकी मुलाकात एक महिला से हुई। वह उसी डिब्बे में सफर कर रही थी। स्वामीजी के व्यक्तित्व से प्रभावित हो वह उनके पास चली आई और उनका परिचय जानना चाहा। स्वामीजी ने सारी कथा कह सुनाई और बतलाया कि उनका इस देश में आने का उद्देश्य यह है कि वे अपने देश की गरीब और निरीह जनता की उन्नति के लिए इस देश से आर्थिक सहायता प्राप्त करना चाहते हैं तथा साथ ही अपने देश की आध्यात्मिक संपदा से अमेरिका वासियों को परिचित करना चाहते हैं। उनके

मधुर संभाषण से वह महिला अत्यधिक प्रभावित हुई और उनसे अपने यहाँ ठहरने का अनुरोध किया। स्वामीजी ने यह आमंत्रण स्वीकार कर लिया।

वह महिला थीं कुमारी केटे सैनबोर्न। उम्र लगभग पञ्चपन वर्ष की होगी। पर उनकी स्फूर्ति और कार्य करने की क्षमता में उम्र ने कोई रुकावट नहीं डाली थी। बात-चीत में सदा हँसमुख, तथा नये नये मित्र बनाने में हमेशा तत्पर। वे अध्यापिका और लेखिका भी थीं। उन्होंने कुछ पुस्तकें लिखी थीं जिनमें अपने जीवनकी विभिन्न घटनाओं का सुन्दर वर्णन किया था। न्यूहेंपशायर से आकर उन्होंने मासाच्यूसेट्स में एक पुराना फार्म खरीद लिया था। उसे धीरे धीरे एक सुन्दर उद्यान के रूप में बदल दिया और उसका नाम रखा 'ब्रीज़ी मीडोज़'। पाइन और सिल्वर की लताओं से वेष्टित उनका घर चारों ओर मनोहर दृश्यों से घिरा हुआ था। घर से लगा हुआ छोटा सा तालाब भी था जिसमें वाटर लिली के फूल खिले हुए थे।

मेटकाफ से स्वामी विवेकानन्द कुमारी सैनबोर्न के साथ खुली गाड़ी में ब्रीज़ी मीडोज़ के लिए रवाना हुए। गाड़ी ग्राम्य मार्ग से होती हुई आगे बढ़ी। कुमारी सैनबोर्न उधर की प्रख्यात महिला थीं। उनके साथ विचित्र वेशभूषा में एक अजनबी को देख ग्रामवासी रास्ते में एकत्र हो जाते और उनका परिचय प्राप्त करना चाहते। कु० सैनबोर्न उनका परिचय देते नहीं थकती थीं। जब गाड़ी ब्रीज़ी मीडोज़ में पहुँची तब तक पूरे गाँव में बिजली की नाईं यह

समाचार फैल गया था कि कुमारी सैनबोर्न के साथ सुदूरवर्ती देश भारत के एक राजा आए हुए हैं। स्वामीजी के असाधारण व्यक्तित्व से उन्होंने राजा का ही अनुमान लगाया। थोड़ी देर में कु० सैनबोर्न का घर लोगों से भर गया। उनकी कौतूहल पूर्ण दृष्टि स्वामीजी पर छा गई। तरह तरह के प्रश्नों की बौछार स्वामी जी पर होने लगी। स्वामीजी संयत भाव से उनके प्रश्नों का जवाब देते रहे। कु० सैनबोर्न के उत्साह का ठिकाना न था। वे भारत से आये हुए इस असाधारण पुरुष का परिचय अपने समस्त मित्रों और परिचितों से कराने लगीं। प्रतिदिन आसपास के गाँवों से लोग दल के दल स्वामीजीको देखने के लिए आते मानों वे प्रदर्शन की कोई वस्तु हों। स्वामीजी के लिये यह कम यंत्रणादायक बात न थी। पर वे धैर्यपूर्वक सब सहते गये। उन्होंने २० अगस्त १८९३ को अपने शिष्य को लिखा था, "यहाँ पर रहने में मुझे यह सुविधा है कि मेरा प्रतिदिन एक पौंड के हिसाब से जो खर्च हो रहा था, वह बच जाता है। और उन्हें यह फायदा है कि वे भारत से पहुँचे हुए इस अजीबो गरीब जन्तु का प्रदर्शन अपने परिचितों को कराकर प्रशंसा प्राप्त कर रही हैं। यह सब सहन करना ही होगा। भूख, शीत तथा अपने अद्भुत पहिनावे के कारण सड़कों पर लोगों की खिल्लियाँ—यह सब मुझे झेलना पड़ रहा है। पर वत्स! यह निश्चित जानना कि कोई भी बड़ा कार्य बिना कठिन परिश्रम के पूर्ण नहीं हुआ······।"

शीघ्र ही स्वामीजी का नाम दावानल की भाँति आस

पास के क्षेत्रों में फैल गया। लोग झुण्ड क झुण्ड उनके पास आने लगे। कोई कौतुकवश कोई जिज्ञासावश तो कोई महज तर्क करने के लिए आते। पर अधिकतर ऐसे ही लोग रहते थे जो भारत के प्रति अनेक भ्रान्त धारणाओं का पोषण किये हुए थे, जिनके लिये भारत हिंस्र वन्य पशुओं से भरा, सघन आरण्यकों से युक्त, जंगली और असभ्य लोगों का देश था। पर जब वे स्वामीजी की वार्ता सुनते, धर्म के प्रति उनका अगाध ज्ञान देखते, तो विस्मय से उनकी आँखें खुली रह जातीं। ईसामसीह के प्रति उनकी अप्रतिम श्रद्धा और ईसाई धर्म का चूड़ान्त ज्ञान उन्हें चकित कर डालता। सबसे अधिक आश्चर्यजनक था उनका वह तत्त्वोपदेश, आर्य ऋषियों की वह अमृतमयी वाणी, धर्म की वह व्यापक परिभाषा जो आकाश की नाईं विस्तृत और सागर की भाँति अथाह थी, जो देश और जाति के बंधनों से मुक्त समस्त मानव मात्र के लिए एकत्व, प्रेम और आनन्द का संदेश देती थी। निस्संदेह इन लोगों ने धर्म की ऐसी व्यापक व्याख्या कभी नहीं सुनी थी। न केवल धर्म के क्षेत्र में स्वामीजी का ज्ञान असीम था, वरन् कला, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्रों में भी उनका अपूर्व अधिकार विस्मयकारी था। जो केवल तिरस्कार की भावना से उनसे तर्क करते, उन्हें वे अपने अकाट्य तर्कों से निरुत्तर कर देते। भारत के प्रति उन लोगों की जो भ्रान्त धारणाएँ होतीं, वे निर्मूल हो जातीं। भारत के प्राचीन गौरव का, उसकी संस्कृति का जब स्वामीजी

बखान करते तो गर्व से उनका मुख प्रदीप्त हो उठता। अनोखी आभा उनके मुखमण्डल में छा जाती। जब वे उसकी वर्तमान गिरी हुई दशा का, उसकी गुलामी का, उस पर विदेशी शासकों द्वारा किए गए अत्याचारों का वर्णन करते तो उनका हृदय करुणा से पूरित हो जाता। उनकी ओजपूर्ण वाणी श्रोताओं के हृदय को छू लेती। मंत्र मुग्ध हो वे लोग सुदूर भूभाग से आये हुए इस रहस्यमय व्यक्ति की बातें सुनते रहते।

१९ अगस्त को शियरबोर्न के स्त्री-कारागार की सुपरिन्टेंडेन्ट श्रीमती जान्सन उनसे मिलने आईं और उन्हें कारागार में कैदियों को संबोधित करने का निमंत्रण दिया। वे गए और उन्होंने वहाँ भारतीयों की संस्कृति और सभ्यता के बारे में एक रोचक व्याख्यान दिया। वे कारागार की सुन्दर व्यवस्था देख अत्यंत प्रभावित हुए। उन्होंने देखा कि वहाँ उसे कारागार नहीं कहा जाता, वरन् सुधारशाला कहा जाता है। कैदियों के प्रति सदय और मृदु व्यवहार देख वे विस्मित हो गये। उन्होंने देखा कि किस प्रकार प्रेम, सहृदयता और सहानुभूति से कैदियों का जीवन परिवर्तित हो जाता है और वे एक अच्छी नागरिक बनकर निकलती हैं। उन्हें याद हो आई अपने देशवासियों की, उन गरीबों, दुखियों और अस्पृश्यों की जिनकी कोई सुनने वाला नहीं था, जिन्हें समाज ने सदा सर्वदा के लिए त्यज्य और घृणित करार दिया था। समाज के रास्ते उनके लिए बंद थे और उनके उठने का कोई मार्ग नहीं रह गया

था। सदियों से उच्च वर्ण के लोगों द्वारा नीच कहलाने वाले इन लोगों पर यह अत्याचार होता आया है। सदैव से ही वे सताए गये हैं। यहाँ तक कि वे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। भारत के उन दीन, दुखियों, और पापियों का साथी कौन है? उनको कौन उठायेगा? कौन उनके खोये हुए व्यक्तित्व को लौटायेगा? यह सोचकर स्वामीजी बेचैन हो उठे। उन्होंने दूसरे ही दिन मद्रास में अपने शिष्यों को लिखा था, "........मैं इस देश में भूख या जाड़े से भले ही मर जाऊँ, परन्तु युवको! मैं, गरीबों, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिए सहानुभूति और प्राणप्रण चेष्टा को थाती के बतौर तुम्हें अर्पण करता हूँ। जाओ, इसी क्षण जाओ उस पार्थ सारथी के मंदिर में, जो गोकुल के दीन हीन ग्वालों के सखा थे, जो गुहक चांडाल को भी गले लगाने से नहीं हिचके, जिन्होंने अपने बुद्धावतार काल में अमीरों का निमंत्रण अस्वीकार कर एक वारांगना का भोजन स्वीकार किया और उसे उबारा। जाओ उनके पास, जाकर साष्टांग प्रणाम करो और उनके संमुख एक महाबलि दो, अपने समस्त जीवन की आहुति दो—उन दीन हीनों और उत्पीड़ितों के लिए, जिनके लिए भगवान युग-युग में अवतार लिया करते हैं और जिन्हें वे सबसे अधिक प्यार करते हैं। और तब प्रतिज्ञा करो कि अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार कार्य में लगा दोगे जो दिनों दिनअवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं।...

"यह एक दिन का काम नहीं, और मार्ग भी अति

भयंकर कंटकों से भरा हुआ है। परन्तु पार्थसारथी हमारे सारथी होने के लिए तैयार हैं—यह हम जानते हैं। उनका नाम लेकर, उनपर अनन्य श्रद्धा रखते हुए, पर्वताकार उस दुखराशि में आग लगा दो जो युगों से भारत में जमा होती रही है, और वह जलकर भस्म हो जायेगी। तो फिर आओ भाइयो, साहस पूर्वक इसका सामना करो। कार्य गुरुतर है और हम लोग साधनविहीन हैं। पर हम लोग ज्योतिर्मय के पुत्र हैं, प्रभु की संतान हैं। प्रभु की जय हो! हम अवश्य सफल होंगे। इस संग्राम में सैकड़ों लोग खेत रहेंगे, पर सैकड़ों पुनः उनकी जगह खड़े हो जायेंगे। हो सकता है कि मैं यहाँ विफल हो मर जाऊँ पर कोई और यह काम जारी रखेगा। तुम लोगों ने रोग जान लिया और दवा भी। अब बस श्रद्धा रखो। तथाकथित धनी और बड़े लोगों का रुख मत जोहो। हृदयहीन कोरे बुद्धिवादी लेखकों और समाचार पत्रों में प्रकाशित उनके निस्तेज लेखों की परवाह मत करो। श्रद्धा, सहानुभूति—अडिग श्रद्धा और अटूट सहानुभूति! जीवन तुच्छ है, मरण भी तुच्छ है; भूख तुच्छ है और जाड़ा भी तुच्छ है। जय हो प्रभु की! आगे बढ़ चलो। प्रभु ही हमारे सेनाध्यक्ष हैं। पीछे मुड़कर मत देखो कि कौन गिरता है—आगे बढ़े चलो! भाइयो! इसी तरह हम आगे बढ़ते जायेंगे—एक गिरेगा तो दूसरा वहाँ डट जायेगा।........"

(क्रमशः)

अहिंसा

श्री घनश्याम श्रीवास्तव 'घन'

अहिंसा धर्म का मेरुदण्ड है। यह ईश्वर रूपी लक्ष्य तक पहुँचने की सुदृढ़ सीढ़ी है। इसमें वह अमोघ शक्ति है जो संहार को सृजन में परिणत कर शत्रु को मित्र बना देती है और विश्व के समस्त प्राणियों के साथ एकात्म भाव जगा देती है। अहिंसा के दैवी प्रभाव से करुण क्रन्दन मंगल ध्वनि में, अराजकता शान्ति में, दुःख सुख में और शोक हर्ष में बदल जाता है। मनुष्य की आत्मा में देवत्व और हृदय में समत्व की अनुभूति उतर आती है। अहिंसा से मानव चरित्र का सौंदर्य बढ़कर दीप्तिमान हो उठता है और आत्मोत्सर्ग की भावना घनीभूत होती है। अहिंसा का वातावरण सर्वदा प्रफुल्ल और मंगलमय बना रहता है। जहाँ इसकी छाया होती है वहाँ श्री भगवान् का वास होता है। अहिंसा मानव मन की सर्वोच्च और पवित्रतम स्थिति है।

व्यवहार की दृष्टि से अहिंसा के दो रूप परिलक्षित होते हैं। एक अन्तरंग और दूसरा बहिरंग। मन में प्रत्येक जीव को अपने समान ही एक जीव समझते हुए उसकी सुरक्षा और हित का चिन्तन करना अहिंसा का अन्तरंग रूप है। वाणी और कर्म से किसी प्राणी के हृदय और शरीर पर व्याघात न करना उसका बहिरंग रूप है।

तात्पर्य यह है कि मन, वाणी और कर्म से किसी को दुःख न पहुँचाना ही अहिंसा है। मनुष्य जब अन्य प्राणी से अपनी सुरक्षा और हित की आशा रखता है तो उसे अपने से भी दूसरे की सुरक्षा और भलाई करनी चाहिए। यही मनुष्यता है। स्वार्थ वश इस मानवीय आदर्श से पतित हो जाना पाशविकता का लक्षण है।

स्वार्थ से उत्पन्न क्रूरता अहिंसा के विरोध में हिंसा को जन्म देती है। क्रूर व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, और प्रतिशोध के वशीभूत होता है। ये मानव चित्त की आसुरी वृत्तियाँ हैं जो मनुष्य को कभी चैन से नहीं बैठने देतीं। उसमें धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य और पुण्य-पाप का ज्ञान नहीं रह जाता। उसके अन्तर में सदा हिंसक प्रवृत्तियाँ जगती रहती हैं। हिंसा अनर्थ का मूल और विनाशकारी है। यह तमोगुण की वह आवरण शक्ति है जो ज्ञान को आच्छादित कर धर्म को नष्ट कर देती है। यह मनुष्य के व्यक्तित्व को कलुषित करने के अतिरिक्त समाज और राष्ट्र के लिए विपत्ति की सृष्टि करती है। यह सार्वभौम उन्नति और समृद्धि में प्रबल बाधा बनकर खड़ी होती है। अहिंसा के इन बाधक तत्त्वों का पूर्णतः उपशमन कर देना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

गीता में भगवान् ने अहिंसा को शारीरिक तप कहा है—'ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।' अहिंसा जीवन की एक महती साधना है। इससे मनुष्य में असाधारण व्यक्तित्व का विकास होता है। अहिंसक व्यक्ति

प्राणिमात्र के सुख-दुख में एकलयता का अनुभव करता है। उसकी महिमा से सभी दिशाएँ सुखमयी हो जाती हैं। अहिंसा वह महामन्त्र है जो कठोर को कोमल, क्रूर को नम्र, ईर्ष्यालु को सहृदय और संसार को स्वर्ग बना देता है। अहिंसा के वायुमंडल में विचरण करने वाले सभी जीव पारस्परिक वैर-भाव का त्याग कर देते हैं। अहिंसा-व्रती महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में सिंह और गाय एक ही स्थान पर विश्राम करते थे।

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।' योगसूत्र २।३५

'योगी के अन्तःकरण में अहिंसाभाव सम्यक् प्रकार से दृढ़ हो जाने पर उसके निकट सब प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं।'

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है जो केवल अनुभव से जाना जा सकता है। अहिंसा के विलक्षण प्रभाव से समय आने पर शत्रु भी अपनी शत्रुता का और दुष्ट भी अपनी दुष्टता का परित्याग कर देता है। इस संदर्भ में एक आख्यायिका प्रसिद्ध है :—

एक साधु प्रतिदिन सवेरे गंगा-स्नान करने जाया करते थे। मार्ग में एक विशाल वट वृक्ष था जिस पर एक शैतान वास करता था। जब कोई व्यक्ति उस मार्ग से जाता हुआ वृक्ष के नीचे आता तो वह शैतान उसके ऊपर मल-मूत्र की वर्षा कर देता था। इससे लोग बड़े दुखी थे। वह महात्मा भी प्रतिदिन उसका शिकार बनते थे, परन्तु निर्द्वन्द्व भाव से बिना कुछ अपशब्द कहे राम-नाम

लेते हुए वे चले जाते थे। शैतान को इससे बड़ी चिढ़ होती। वह देखता कि अन्य सभी तो अपवित्र होने पर उसे नाना अपशब्द कहते हैं पर यह पुरुष कुछ भी नहीं कहता। एक दिन उसने मन में ठाना कि कल वह उस व्यक्ति को खूब तंग करेगा। दूसरे दिन स्नान कर वह महात्मा ज्योंही उस वृक्ष के नीचे पहुँचे, शैतान ने उन पर रक्त की वर्षा कर दी। वे दुबारा स्नान करने चले गये। उनके लौटने पर पुनः शैतान ने वैसा ही किया। महात्मा को तीसरी बार स्नान करने जाना पड़ा। बड़ी देर तक यह क्रम चलता रहा। न तो शैतान ने अपनी शैतानी छोड़ी और न साधु ने अपनी साधुता। अन्त में वे महात्मा वट वृक्ष के नीचे आसन जमाकर बैठ गये।

उन्होंने कहा—'रे भाई' आज तू जी-भर मल-मूत्र बरसा ले मेरे ऊपर। जब तक तू सन्तुष्ट नहीं होगा, मैं अपने आसन से नहीं हिलूँगा।'

यह कह कर उन्होंने राम-नाम का जाप प्रारम्भ कर दिया। महात्मा की ऐसी शान्त, निर्भय और अविचल अवस्था देख कर शैतान को बड़ा विस्मय हुआ। उसने सोचा—'निश्चय ही यह कोई दिव्य आत्मा है जिस पर मेरी शैतानी का कुछ भी असर नहीं होता।' प्रभु की दया से उसका हृदय बदल गया। उसने मन-ही-मन हार मान ली और एक प्रौढ़ मनुष्य के रूप में उनके सामने आकर खड़ा हो गया।

उस अपरिचित व्यक्ति को सहसा देखकर महात्मा ने पूछा—'तुम कौन हो ?'

'महाराज, मुझे क्षमा करें। मैं वही शैतान हूँ जिसने आज आपको इतना कष्ट दिया।'—शैतान ने हाथ जोड़ कर कहा।

'ओह! अब तो तुम तृप्त हो गये न ?'—महात्मा के होठों पर मधुर मुस्कान थी।

'महाराज आप मेरा उद्धार करें। यही प्रार्थना है।'—कहकर वह साधु के चरणों पर गिर पड़ा।

'राम-नाम बोलो और शैतानी छोड़ दो'—महात्मा ने अशीर्वचन के साथ अपने पवित्र हाथों से उसके शरीर का स्पर्श किया।

साधु के दिव्य स्पर्श से शुद्ध होकर वह शैतान राम नाम बोलता हुआ अदृश्य हो गया। तब से वहाँ मल-मूत्र का वर्षण बन्द हो गया। सभी सुखी हो गये।

मनुस्मृति में मनु जी ने अहिंसा के कल्याणकारी एवं मांगलिक प्रभाव का प्रतिपादन करते हुए कहा है।:—

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयऽनुशासनम्।
वाक्चैव मधुराश्लक्षणा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥२।१५६

धर्मात्मा पुरुष 'अहिंसा से ही कल्याण है' ऐसी शिक्षा लोगों को दें. और मीठी तथा कोमल वाणी का प्रयोग करें।

भगवती श्रुति अहिंसोपासक के लिये ब्रह्मलोक-गमन तथा मोक्ष का विधान करती है।

'अहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकं अभि सम्पद्यते न च पुनरावर्तते।' छा० उ० ८।१५।१

'अन्यत्र प्राणियों की हिंसा न करता हुआ वह निश्चय ही इस प्रकार वर्तता हुआ आयु क्षीण होने पर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और फिर संसार-चक्र में नहीं लौटता।'

महाभारत में अहिंसा की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति कहते हैं :—

प्राणिनामवधस्तात सर्व ज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेन् वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन॥

कर्ण पर्व ६६।२३

'हे तात! प्राणियों को हिंसा न करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है, यह मेरा मत है। किसी की प्राणरक्षा के लिए झूठ बोलना पड़े तो बोलदे, किन्तु उसकी हिंसा किसी प्रकार न होने दे।'

श्री विष्णुपुराण में अहिंसा के भक्ति पक्ष की सुन्दर सम्पुष्टि मिलती है।

सोऽहं न पापमिच्छामि न करोमि वदामि वा।
चिन्तयन्सर्वभूतस्यमात्मन्यपि च केशवम्॥
एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिः अव्यभिचारिणी।
कर्तव्या पंडितैर्ज्ञात्वा सर्व भू मयं हरिम्॥

१।१६।७,६

प्रह्लाद जी अपने पिता हिरण्यकशिपु से विनम्रता पूर्वक कहते हैं—'स्वयं में और समस्त प्राणियों में भगवान्

केशव को वर्तमान समझकर मैं किसी का अहित न तो चाहता हूँ, न बोलता हूँ और न करता हूँ। इस प्रकार भगवान् को सर्वभूतमय जानकर सभी प्राणियों में श्रद्धा भक्ति करनी चाहिए।'

अहिंसा की यह चरमावस्था है। यहाँ परम ज्ञान के आलोक में अहिंसा का दिग्दर्शन होता है। अहिंसक व्यक्ति सभी भूत प्राणियों में भगवान् को देखता है और भगवान् में सभी भूत प्राणियों को। इसी के सहारे वह श्री भगवान् का देव-दुर्लभ दर्शन भी प्राप्त कर लेता है। यहाँ श्रीमद्भगवद्गीता की यह अमर वाणी पूर्णतः चरितार्थ होती है:—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥६।३०

अहिंसा के बाधक तत्व काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर और प्रतिशोध की जननी द्वैत बुद्धि है। यह द्वैत बुद्धि अज्ञान जनित है। आत्म संयम और ज्ञान के द्वारा इसका नाश हो सकता है। इसका नाश करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। गीता इन बाधक तत्वों के प्रति हमें सचेत करती हुई कहती है:--

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवम्।
महाशनो महा पाप्मा विद्धयेनं इह वैरिणम् ॥ ३।३७

रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह अग्नि के समान अतृप्त रहता है। इस महा पापी को तू अपना बैरी जान (और इसका उपशमन कर)।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ ५।२३

(क्योंकि) जिस व्यक्ति ने जीते-जी काम-क्रोध पर विजय पा ली, वही सच्चा सुखी और अक्षय आनन्द का भागी है।

कामान्ध पुरुष ही प्रतिकूल परिस्थिति में क्रोध के वशीभूत होकर हिंसा का आश्रय लेता है और अनुकूल परिस्थिति में अपने पाशविक आचरण का प्रदर्शन करता है। क्रोध मानवता और धर्म का हरण कर मनुष्य को पतन के गर्त में डाल देता है। समस्त सांसारिक संघर्ष क्रोध से ही परिचालित होते हैं। क्रोध विवेक का शत्रु है, और अनीति का मित्र। क्रोध काल है; हृदय की ज्वाला है और जीवन का विष है। लोभ से संचय-वृत्ति का उदय होता है और भोग-पदार्थ के प्रति आसक्ति बढ़ती है। भोगों के संग्रह एवं संवर्धन के लिये मनुष्य हीन से हीन कर्म करने में भी नहीं हिचकता। उसका जीवन नारकीय बन जाता है।

गीता का वचन है। :--

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ १६।२१

काम, क्रोध और लोभ ये तीनों ही आत्मा का पतन करने वाले नरक के द्वार हैं। अतएव इनका (हथेली पर रखे अंगार के समान) त्याग करना चाहिए। यही कर्तव्य है।

अज्ञान से अहंकार और मद की वृद्धि होती है। अभिमानी मनुष्य लोगों की नजरों से गिर जाता है और समाज

का घृणित जन्तु बन जाता है। मत्सर बुद्धि व्यक्तित्व की तुच्छता का परिचायक है। ऐसा व्यक्ति जनता से तिरस्कार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं पाता। प्रतिशोध की भावना उस प्रचंड आग के समान है जो अनेकों घर भस्म करके ही बुझती है।

अहिंसा के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले ये तत्व सदैव दमनीय हैं। इनका दमन किये बिना जीवन का सुख वैसे ही छिपा रह जाता है जैसे बादलों की ओट में सूर्य। अहिंसा की समृद्धि तभी होती है जब मानव-मन में धैर्य, क्षमा, सहिष्णुता और सहानुभूति प्रवेश करती है। अहिंसाव्रती व्यक्ति सदानन्दमय ईश्वर की ओर अग्रसर होता हुआ विश्व में सुयश और कीर्ति का भागी बनता है। वह समदर्शिता की जीवन्त मूर्ति बन जाता है। सबको सुख देकर वह सुख का अनुभव करता है और स्वयं भीषण कष्ट सह कर भी दूसरों का दुःख दूर करने का भगीरथ प्रयत्न करता है। यही उसके चरित्र की महानता है। वह क्षुद्र और आत्म केन्द्रित जीवन से ऊपर उठकर लोगों के हृदय में अपना स्थान बनाता है और धीरे-धीरे उनका प्रतीक बन जाता है। उसमें एक ऐसी शक्ति आ जाती है कि वह सभी के मर्मस्थल और अनुभूतियों को छू लेता है। प्राणिमात्र के हित के लिए किया गया कर्म उसकी दृष्टि में भगवत्पूजा से कम श्रेष्ठ नहीं होता। उसके कर्मों के मूल में सदा ब्रह्मभाव की अनुप्रेरणा वास करती है।

कुछ लोग अहिंसा को कापुरुषता की संज्ञा देते हैं,

परन्तु यह उनकी भूल है। अहिंसा कापुरुषता नहीं बल्कि तितिक्षा है, अनाशक्त कर्मठता है। अहिंसक मारता नहीं, पर वह हारता भी नहीं। यही तो उसके आचरण की विलक्षणता और कर्म की कुशलता है। इसी असामान्य रीति से वह अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति कर लेता है। अहिंसा के बल पर ही महात्मा गाँधी राष्ट्रपिता बन गये। क्रूस पर चढ़ाये जाते समय अहिंसा के अवतार ईसा ने महा याजकों के प्रति कहा था—'हे पिता, तू इन्हें क्षमा कर, क्योंकि ये नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं।' उन्होंने अपने हत्यारों को भी क्षमा कर दिया था।

अहिंसा और अहिंसाव्रती की जय हो।

आशा नाम मनुष्याणां काचिदाश्चर्यश्रृंखला।
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पंगुवत्॥

—मनुष्यों की आशा ऐसी आश्चर्ययुक्त जंजीर है जिससे बँधे हुए लोग दौड़ते हैं तथा रहित होने पर पंगु के समान खड़े रहते हैं।

यदि तुमने आसक्ति का राक्षस नष्ट कर दिया तो इच्छित वस्तुएँ तुम्हारी पूजा करने लगेंगी।

—स्वामी रामतीर्थ

ईश्वरीय धरोहर

डा० प्रणव कुमार बनर्जी

ईश्वर कहाँ रहते हैं ?
अनन्त नील के अन्तस्थल में ?
या आकाश गंगा के उस पार ?
हम नहीं जानते ।
अपेलो के दुर्घटना जीतकर
स्पुतनिक की आकांक्षा के स्वप्नतीर्थ पर
चाँद की ही खबर आयेगी—
ईश्वर की नहीं ।
ईश्वर कहाँ रहते हैं ?
यह प्रश्नवाचक चिन्ह
तब भी रहेगा ।

हम जानते हैं—
वह हिमालय का मुकुटवाला
सिन्धु में चरण धोता देश,
जिसका नाम है भारत,
महाकाल की किसी रात्रि के अन्त से
रहा है ऐसा देश
जहाँ बार बार
थोड़ा सा समय लेकर
भगवान स्वयं खेलते रहे हैं—

राम और कृष्ण
बुद्ध और महावीर
नानक और चैतन्य
रामकृष्ण और रमण
आदि रूपों में।

इस समय थोड़ासा अल्पविराम है—
वे फिर आने ही वाले हैं;
हमारे विश्वासों के जगने को प्रतीक्षा है,
परीक्षा है।
कोटि जनों के अश्रु,
कोटि जनों के हाहाकार,
उस पुष्प स्तवक के अंग हैं
जिनके शृंगार बगैर वे नहीं आते—
हम उनकी लीला के अंग होंगे।

केवल,
हमें रखना होगा
इस भारत को सँभालकर
उस गद्दी की तरह
जो मालिक की अनुपस्थिति में
विश्वासपात्रों द्वारा सँभालकर
सँवारकर रखी जाती है।

—:०:—

सूफी सन्त राबिआ

"वह एकांत वासिनी वन्दनीय सन्त महिला, हृदय की पवित्रता रूपी आवरण से अपने पांचभौतिक मुख को ढकनेवाली, प्रेम और ईश्वरीय आकांक्षा की अग्नि से प्रज्वलित, प्रभु - मिलन और उनकी महिमा को आत्मसात् करने के लिए अधीर - वह जो परमात्मा को स्वीकार हो गयी और जिसमें लोग पवित्रता में दूसरी मरियम मानते हैं, उस राबिआ - अल - अदबिया पर परमात्मा की असीम कृपा हो।"

फरीदुद्दीन अत्तार

सन्त शिरोमणि राबिआ का जन्म सन् ७१७ ई० को ईराक के बसरा नामक नगर में एक बहुत ही दरिद्र परिवार में हुआ था। घर में न चिराग में तेल था, और न ओढ़ने को कपड़ा। यहाँ तक कि रिवाज के अनुसार नाभि तक में रखने को तेल न था। किन्तु दुखी माता पिता के भार को हजरत मुहम्मद ने स्वयं स्वप्न में प्रकट होकर हल्का कर दिया। कहा—"रंज न करो, तुम्हारी यह बेटी खुदा की बड़ी प्यारी होगी।" अपने माता पिता की चौथी लड़की होने के कारण इसका नाम "राबिआ" रखा गया।

राबिआ ने उम्र भर दुख और हद दर्जे की गरीबी सहन की। छोटी सी उम्र में ही माता पिता का देहान्त हो गया। उन्हीं दिनों बसरा में एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ा जिसमें

राबिआ अपनी अन्य बहनों से बिछुड़ कर इधर उधर भटकने लगी। उसको किसी ने पकड़ कर गुलाम बना लिया और बाद में किसी निर्दयी के हाथों बेच दिया। वह राबिआ से कठोर मेहनत करवाता। किन्तु जन्म से ही लगातार आने वाली विपदाएँ भी राबिआ के ईश्वर प्रेम और धैर्य को नहीं डिगा सकीं। इतनी मुश्किलों के बावजूद भी वे क्षणभर के लिए भी हतोत्साही नहीं हुईं और अदम्य उत्साह और शक्ति के साथ ईश्वरोपासना करती रहीं। वे दिन को रोजे रखतीं और कड़ा परिश्रम करतीं तथा रात भर परमेश्वर से प्रार्थना करतीं।

एक रात वे भाव विभोर हो भगवान् से प्रार्थना कर रहीं थीं— "हे खुदा, तूने मुझे दूसरे का गुलाम बना रखा है, अतः मैं केवल रात में ही तेरी स्तुति कर पाती हूँ। दिन को तेरे दरबार में आने की फुरसत नहीं मिलती। तू तो मेरे दिल का मालिक है। यदि आजाद होती, तो हे प्रभु, तू जानता है, कि तेरे दिये हुए इस जीवन का प्रत्येक क्षण तेरी आराधना में ही बीतता। वैसे जैसी तेरी इच्छा।" दैवयोग से मालिक की आँख खुली। जब उसने झाँक कर देखा तो प्रार्थना में बैठी राबिआ के सिर के ऊपर एक दिव्य ज्योति को प्रकाशित देखा। सोचा, अवश्य यह कोई दिव्यात्मा है। सुबह होते ही उसने क्षमा माँगी और उन्हें रिहा कर दिया।

सांसारिक स्वामी से स्वतंत्र होकर, राबिआ एक-निष्ठ हो, अपने एकमात्र स्वामी, परमेश्वर की आराधना में

तल्लीन हो गईं। वे रेगिस्तान में एकान्त वास और साधना करने लगीं। वे रातदिन लगातार आराधना में निमग्न रहतीं और प्रतिदिन एक हज़ार रक़त नमाज पढ़तीं। इस प्रकार लंबा समय साधना में व्यतीत करने के पश्चात् वे बसरा लौट आईं और एकान्त में कुटिया बनाकर रहने लगीं। धीरे धीरे उनकी ख्याति फैलने लगी और कई धनी मानी व्यक्ति विवाह के लिये आने लगे। किंतु ईश्वर को ही एकमात्र स्वामी मानने वाली राबिआ ने सबको दूर ही रखा। धन का लालच देने पर वे डाँटकर कहतीं, "मुझे क्षण भर भी मेरे दयालु भगवान् से दूर न करो। वह मुझे, तुम जितना दे सकते हो उससे कई गुना अधिक धन दे सकता है।" एक अन्य सन्त के द्वारा विवाह न करने का कारण पूछने पर उन्होंने बड़े ही सुन्दर उत्तर से उन्हें चुप कर दिया—"यह सवाल तो तुम उससे करो जिसकी कि (अर्थात ईश्वर की) मैं मिल्कियत हूँ।

राबिआ ने तीन बार हज़ की यात्रा की उस समय तक वे आध्यात्मिक जीवन में बहुत ऊँची उठ गई थीं। फरीदुद्दीन अत्तार ने अपनी बहुमूल्य पुस्तक तज-के-रतुल औलिया में लिखा है कि काबा खुद उनके स्वागत के लिये आगे आया, और दूसरे यात्रियों को वह अपने स्थान पर नज़र न आया। काबा को स्वागत के लिये आता देख राबिआ ने कहा—"मैं खान-ए-काबा को क्या करूँगी, मुझे तो मालिके-काबा चाहिये।" इसी प्रकार की मजेदार बात शिब्ली नाम के अन्य सूफी सन्त

कहा करते थे। वे शान से हाथ में जलता हुआ अंगारा लिये घूमते थे। पूछने पर कहते, "मैं इस अंगारे से खान-ऐ-काबा को जलाने जाता हूँ।" इसलिये कि लोग बिना किसी माध्यम के सीधे भगवान् की ओर चलें। काबा के बजाय लोग साहबे-काबा की ओर आकृष्ट हों।

काबा की पहली यात्रा के समय की एक घटना से राबिआ की विनम्रता प्रकट होती है। दैवयोग से एक बुजुर्ग संत इब्राहिम-बिन-अदहम भी उसी समय चौदह वर्ष की लम्बी यात्रा समाप्त करके काबा पहुँचे। वे प्रत्येक कदम पर नमाज़ पढ़ते थे। पर उन्हें भी काबा नजर न आया क्योंकि वह राबिआ के स्वागत के लिये गया था। उन्होंने प्रेम भरे शब्दों में रोष प्रदर्शित करते हुए कहा कि राबिआ ने यह कैसा हंगामा मचा रखा है। राबिआ का उत्तर अद्वितीय विनम्रता से परिपूर्ण था। कहा—"तुमने नमाज़ पढ़कर रास्ता तय किया, और मैंने बेखुदी और हलीमी से!" संत इब्राहिम के तपस्या के घमंड को चूर करने के लिये और राबिआ की विनम्रता एवं दीनता प्रदर्शित करने के लिये काबा ने राबिआ का स्वागत किया।

दूसरी बार राबिआ पहलू के बल लुढ़कती हुई सात वर्षों में काबा पहुँचीं और उनके हृदय में अपने आराध्य के दर्शनों की लालसा जागी। किन्तु उस अहंकारी तपस्या से भगवान् क्रुद्ध हो गये और फटकार लगाते हुए बोले, "तू जमाने के अभी ७० पर्दों में है (अर्थात् तुझमें अभी कई वासनाएँ हैं)। जब तक इन पर्दों से निकल कर तू हमारी

राह पर सच्चे दिल से कदम न रखे, तब तक तुझे फ़ुक्र (आत्म-तुष्टि) का नाम लेना वाजिब नहीं।" इसके बाद राबिआ को एक दैवी दृश्य दिखा, जिसमें खुदा के उन प्यारों के खून की नदी दिखी, जिन्होंने अपने आपको भगवत्-प्रेम की राह पर मिटा दिया था। इस पर भी राबिआ ने सदा की तरह दीनता पूर्ण उत्तर दिया। कहा, "सच है कि मैं इस लायक ही नहीं हूँ कि तुम्हारे दर्शन कर सकूँ। क्योंकि मैंने तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध तुम्हें देखने की इच्छा की थी। अतः अब मुझे बसरा जाकर तुम्हारी आराधना की आज्ञा प्रदान करो।"

राबिआ अगर ईश्वर से कुछ माँगती थी, तो दूसरे ही क्षण वे अपनी इच्छा को प्रभु की इच्छा में विलीन भी कर देती थीं। जितनी गहरी वेदनाएँ खुदा राबिआ को देते थे, उतना ही गहरा प्यार था दोनों के बीच में। जब तीसरी बार वे हज़ को गई, तो रास्ते में बियाबान जंगल में उनका दुर्बल गधा, जिसपर वे सामान लाद कर ले जा रही थीं, मर गया। साथियों ने कहा कि हम तुम्हारा सामान ले चलेंगे। राबिआ ने इनकार करते हुए कहा, "मैं तुम्हारे भरोसे नहीं आई हूँ। तुम लोग जाओ।" जब सब चले गये, तब दर्द, प्रेम और उलाहने के शब्दों में उन्होंने भगवान् से शिकायत की, "ये तुम्हारे क्या ढंग हैं? क्या सातों आसमान के मालिक एक गरीब औरत के साथ ऐसा बर्ताव करते हैं? पहले तो अपने घर की ओर बुलाया और अब रास्ते में गधे को मार दिया!" कितना मार्मिक, आत्मीयता

से ओतप्रोत और दृढ़विश्वास से पूर्ण है यह संबोधन! सर्व शक्तिमान भगवान् पसीज गये। गधा जिन्दा हो उठा।

ईश्वर पर इनका अटूट विश्वास एक और घटना से प्रदर्शित होता है। एक बार दो सन्त इनसे मिलने आये। वे भूखे थे। राबिआ के पास दो रोटियाँ थीं। वही उन सन्तों के सामने रख दीं। इसी समय एक फकीर आया और राबिआ ने दोनों रोटियाँ उठाकर उसे दे दीं। कुछ ही देर में एक दासी १८ रोटियाँ लेकर आई। राबिआ ने वह लौटाते हुए कहा कि यह मेरे लिये नहीं है। कुछ देर बाद दासी बीस रोटियाँ लेकर आई जिन्हें लेकर राबिआ ने सन्तों की भूख मिटाई। आश्चर्य चकित सन्तों ने जब इस घटना का रहस्य पूछा तो राबिआ ने कहा, "खुदा ने कुरान में कहा है कि मैं एक के बदले दस देता हूँ। इसीलिये जब फकीर आया तब मैंने दोनों रोटियाँ दान कर दीं। बदले में १८ रोटियाँ बेहिसाब थीं। बीस रोटियाँ वायदे के अनुसार थीं, इसीलिये ले लीं।"

भगवान् भी अपने सच्चे भक्त के साथ दोस्ती निभाने में पीछे नहीं रहते। जो उनपर संपूर्ण आत्मसमर्पण कर देते हैं, भगवान् उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। एक बार राबिआ सोई थीं, कि एक चोर घुस आया। चादर लेकर भागने को हुआ तो रास्ता नजर न आया। चादर रख दी तो रास्ता मिल गया। कई बार ऐसा हुआ। अन्त में आवाज सुनाई दी, "मूर्ख! क्यों परेशान होता है? इसने अपने आप को मेरे (ईश्वर के) सुपुर्द कर

दिया है। एक दोस्त सोता है, तो एक जागता है। यह संभव नहीं कि कोई इसकी चीज़ चुरा ले जाये।"

अन्य सूफी सन्तों की तरह, राबिआ ने भी सांसारिक वस्तुओं का पूर्ण रूप से त्याग करके अपने प्रियतम के लिये पूर्ण निर्धनता को ग्रहण किया था। एक बार उन्होंने पूरा एक सप्ताह उपवास, जागरण और अखंड नमाज़ में व्यतीत किया। अन्त में वे बहुत भूखी और कमज़ोर हो गईं। किसी ने कटोरे में दूध दिया था, वह भी बिल्ली ने गिरा दिया। पानी पीने को हाथ बढ़ाया, तो बर्तन गिरकर फूट गया। क्षुधा से व्याकुल हो, वे भगवान् से शिकायत कर ही बैठीं, उसकी इस निर्दयता पर, ...वह भी अपने प्यारे भक्त पर। तदनन्तर, एक दैवी वाणी ने कहा, "राबिआ, हमारा ग़म और सांसारिक सुख, दोनों एक दिल में वास नहीं कर सकते। अगर तू चाहे तो सांसारिक सुख तुझे दे दूँ और खुद तुझसे दूर हो जाऊँ।" इस पर शर्म और ग्लानि से व्यग्र होकर राबिआ ने अपने दिल को दुनिया से उसी तरह हटा लिया जैसे कोई मरणासन्न व्यक्ति सांसारिक आशाओं को छोड़ देता है। इसके पश्चात् राबिआ ने अपनी शारीरिक आवश्यकताओं और वासनाओं का पूर्ण दमन कर, शरीर और मन पर संपूर्ण संयम प्राप्त किया। कहते हैं कि एक बार सिर पर गहरी चोट लगने पर भी उसकी पीड़ा का उन्हें अनुभव नहीं हुआ।

सांसारिक उपलब्धियों से वे विरक्त तो थीं ही, पर उनकी एकनिष्ठ ईश्वर-भक्ति इस चरम सीमा तक पहुँच

गई थी कि एक बार स्वप्न में हज़रत मुहम्मद की दोस्ती को भी ठुकराते हुए उन्होंने कहा था, "खुदा की मुहब्बत का मुझपर ऐसा प्रभुत्व है कि उसके सिवा और किसी की दोस्ती या दुश्मनी के लिये मेरे दिल में जगह नहीं।" वे कहतीं, "खुदा-परस्ती से फुरसत मिले तो शैतान से दुश्मनी करूँ।" उनकी प्रतिदिन की प्रार्थना उनकी अहेतुकी भक्ति की द्योतक है : "हे भगवान् ! यदि मैं नर्क के डर से तुझे याद करती होऊँ, तो मुझे नर्क की अग्नि में जला। यदि मैं स्वर्ग की इच्छुक हूँ तो मुझे उससे वंचित रख। पर यदि मैं तुझे ही चाहती होऊँ, तो मुझे अपना दर्शन प्रदान कर।"

ईश्वर प्रेम का स्वाभाविक परिणाम है सब जीवों से प्रेम, सब जीवों पर दया ! राबिआ एक दिन पशु-पक्षियों से घिरी बैठी थीं। ईश्वर-प्रेम में हमेशा डूबी रहने वाली राबिआ के अंग-प्रत्यंग से प्रेम प्रकट होता था। भला उनसे कैसे किसी को भय हो सकता था ? इतने ही में हसन बसरी नाम के एक सन्त वहाँ से गुजरे। उन्हें देखते ही सारे पशु-पक्षी भाग गये। कुछ चोट खाये से, वे राबिआ से कारण पूछ बैठे। राबिआ ने उनसे पूछा, "आज क्या खाया ?" बोले—"मांस।" राबिआ ने कहा, "जब तुम इन्हीं को खाओ, तो भला वे तुमसे क्यों न डरें ?"

कठोर तपस्या और साधना के फलस्वरूप राबिआ को सिद्धियाँ भी प्राप्त हुई थीं। पर वे उन्हें बहुत ही तुच्छ समझती थीं। हसन बसरी ने एक बार मानो चुनौती देते हुए मुसल्ला (नमाज पढ़ने का आसन) दरिया पर बिछा

कर कहा, "आओ, पानी पर नमाज़ पढ़ें।" उत्तर में राबिआ ने हवा में मुसल्ला बिछा दिया। हसन का दिल छोटा होता देख, राबिआ ने सांत्वना देते हुए कहा, "जो मैंने किया वह एक मक्खी कर सकती है, और जो हसन ने किया वह मछली के लिये संभव है। ऐसा कार्य किया जाये, जो इन दोनों से कहीं अधिक ऊँचा हो। और वह है आत्म-संयम, शारीरिक चेतना से ऊपर उठ जाना।" हसन ने खुद स्वीकार किया है कि एक बार सारी रात उन्होंने राबिआ के साथ सत्संग में बिताई, पर क्षण भर भी उन्हें यह भान न हुआ कि वे पुरुष हैं और राबिआ स्त्री।

राबिआ अपने जीवनकाल में ही बहुत विख्यात हो गई थीं। उनके कई शिष्य थे, जो उनके उपदेश सुनने और आध्यात्मिक जीवन के लिए मार्ग दर्शन प्राप्त करने उनके पास आया करते थे। उस समय के कई सन्तों ने उन्हें निर्विवाद रूप से अपने से उच्च कोटि का सन्त स्वीकार किया था। हसन बसरी के अलावा, अब्दुल वहीद आमरी, मालिक बिन दिनार, सन्त सफियान इत्यादि कई सम-कालीन सन्तों ने नारी होते हुए भी राबिआ को निर्विवाद रूप से अपना मार्ग-दर्शक माना था। पर विनम्रता की मूर्ति राबिआ ने अपने आप को सदा ही ईश्वर का एक तुच्छ सेवक माना और कभी भी अपने को भगवान् और साधक के बीच में बाधा बनने का अवसर नहीं दिया।

अनवरत तपस्या के बोझ से राबिआ का शरीर क्लान्त हो गया और वे अपने अन्तिम दिनों में प्रायः अस्वस्थ रहा

करती थीं। उन्होंने मृत्यु पर्यन्त प्रभु प्रेम, निःस्वार्थता तथा दारिद्र्य का पालन किया। इनके तपस्वी जीवन तथा आत्म निग्रह का अन्त मृत्यु के साथ ही हुआ। वे शाब्दिक उपदेश बहुत कम देती थीं। वस्तुतः उनकी शिक्षा उनके जीवन से ही प्रदर्शित होती थी। उनके घर पर बैठने और बिछाने के नाम पर टाट का एक टुकड़ा था, तकिये के नाम पर एक ईंट और पानी रखने के लिये केवल एक बर्तन जिसमें पीने और धोने दोनों ही के लिये पानी रहता था। उन्होंने कभी किसी से न तो कुछ माँगा और न किसी के देने पर स्वीकार ही किया। दुनिया के मालिक ने ही सबको दिया है, और देता है, फिर क्यों किसी से कोई माँगे ? प्रभु ने जो कुछ दिया, राबिआ को उसी पर संतोष था। किसी ने पूछा, "क्या आपका दिल किसी चीज़ को चाहता है ?" राबिआ ने उत्तर दिया, "मैं दासी हूँ (भगवान् की)। दासी की ख्वाहिशें ही क्या हो सकती हैं ?" फिर बोलीं, "बारह साल तक खुरमे खाने की इच्छा होती रही, और बसरे में वे हैं भी बहुत सस्ते, लेकिन अभी तक नहीं खाये, इसलिये कि मैं बाँदी हूँ। मालिक की मर्जी के विरुद्ध कुछ करना नास्तिकता है।"

राबिआ की मृत्यु सन् ८०१ ई० में हुई। अन्तकाल भी उनके भक्तिमय जीवन के अनुरूप ही था। कहा जाता है कि अन्त समय में उन्होंने उपस्थित लोगों को बाहर जाने के लिये कहा, जिससे फरिश्तों के लिये स्थान खाली हो जाये। फिर लोगों ने उनकी आवाज़ सुनी—"ऐ रूह मुत्मईन, अब तू अपने खुदा की ओर लेचल।" वे कहा करती थीं कि

मृत्यु एक पुल के समान है, जहाँ प्रिय और प्रियतमा का संगम होता है।

सूफी सम्प्रदाय एक प्रकार की नैतिक पद्धति है। वह कोई अलग दार्शनिक विचारधारा नहीं। तात्पर्य यह कि इसमें ईश्वर, आत्मा, मुक्ति इत्यादि विषयों पर दार्शनिक चर्चा नहीं है किन्तु ईश्वर प्राप्ति के लिये कुछ व्यावहारिक निर्देश दिये गये हैं। राबिआ ने भी कभी आत्मा, परमात्मा इत्यादि के अस्तित्व के संबंध में दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न नहीं किया। आत्मा और परमात्मा हैं, दोनों का विलय ही लक्ष्य है, और इसकी अभिलाषा एक महान् सत्य है, जिसको किसी तर्क-युक्त प्रमाण की आवश्यकता नहीं। अतः राबिआ ने केवल एक व्यावहारिक मार्ग का ही अनुसरण किया।

राबिआ के जीवनी-लेखकों ने इस व्यावहारिक मार्ग को कुछ अवस्थाओं और नैतिक नियमों में बाँधने का प्रयत्न किया है। कुछ लेखकों का मत है कि उन्होंने प्रायश्चित्त, धैर्य, ईश्वर के प्रति कृतज्ञता, आशा, आत्मसंयम, तपस्या, इत्यादि का विधिवत् पालन किया था। किन्तु संभावना तो अधिक इस बात की है, कि ये सब उनके तीव्र ईश्वर-प्रेम के परिणाम थे, न कि कारण। ईश्वर से अहेतुक प्रेम होने पर, वे खुद ही बता देते हैं कि उन्हें क्या पसंद है और क्या नहीं, और स्वाभाविक रूप से सन्त के चरित्र में आमूल परिवर्तन ला देते हैं। राबिआ के जीवन की यही सबसे बड़ी सीख है—"प्रेम-ईश्वर से एकनिष्ठ प्रेम,

ऐसा ज्वलंत प्रेम, जिसकी उष्णता में सब पाप और कमजोरियाँ जलकर भस्म हो जायँ।" राबिआ की उक्तियों से प्रतीत होता है कि उनका ईश्वर के प्रति सखाभाव, दास्यभाव तथा मधुरभाव था। कहीं पर उन्होंने भगवान् को दोस्त कहकर संबोधित किया है, तो किसी स्थान पर अपने आपको बाँदी कहा है। कुछ जगह उन्होंने ईश्वर को अपना प्रियतम माना है।

मुस्लिम सन्तों के इतिहास में रबिआ का स्थान अद्वितीय है। वे स्त्री सन्तों में ही अग्रगण्य नहीं हैं बल्कि पुरुषों में भी यदि सबसे आगे नहीं, तो किसी से कम भी नहीं। केवल राबिआ ही एक महिला हैं, जिनका चरित्र अत्तार ने अन्य पुरुष सन्तों के साथ अपनी पुस्तक में अंकित किया। भक्त शिरोमणि राबिआ के जीवन की श्रेष्ठता और विचारों की शुद्धता, किसी भी जाति और किसी भी काल के सन्तों के लिये अभिनन्दनीय कही जा सकती है।

आरम्भन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः॥

—अज्ञानी मनुष्य थोड़ा ही आरम्भ करते हैं और बहुत व्याकुल होते हैं, परन्तु ज्ञानी बड़ा कार्य आरम्भ करने पर भी नहीं घबराते।

—हितोपदेश

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

श्री शरद् चन्द्र पेंढारकर, रायपुर

१. निंदक नियरे राखिये

पूज्य विनोबाजी अपने पत्रों को सँभालकर रखते हैं और उन सबका यथावत् उत्तर भी दिया करते हैं। एक दिन उनके पास गाँधीजीका एक पत्र आया, तो उन्होंने उसे पढ़कर फाड़ दिया। समीप ही श्री कमलनयन बजाज भी बैठे थे। उन्हें यह देख आश्चर्य हुआ। वे अपने उद्वेग को दबा न सके और उन्होंने उन फटे टुकड़ों को जोड़कर पढ़ा तो उसे विनोबाजी की प्रशंसा से ओत-प्रोत पाया। उसमें लिखा था—"आपके समान उच्च आत्मा मैंने और कहीं नहीं देखा।"

साश्चर्य बजाजजी ने पूछा, "आपने यह पत्र फाड़ क्यों दिया? सही बात जो लिखी थी। इसे सँभालकर रखना था।" सस्मित विनोबाजी ने उत्तर दिया, "यह पत्र मेरे लिए बेकार है, अतः मैंने फाड़ डाला। पूज्य बापू ने अपनी विशाल दृष्टि से मुझे जैसा देखा, वही इस पत्र में लिख दिया है; पर मेरे दोषों की उन्हें कहाँ खबर है? मुझे तो आत्म-प्रशंसा बिलकुल पसंद नहीं। हाँ! कोई मेरे दोष बतावे, तो मैं बराबर उनका ख्याल करूँगा।"

२. विनम्रता

स्व० लालबहादुर शास्त्री अपने नौकर-चाकरों के साथ

बड़ी विनम्रता का बर्ताव रखते थे, किंतु उनकी पत्नी ललिता देवी का नौकरों के साथ अधिक संबंध होने के कारण नौकरों द्वारा त्रुटियाँ किये जाने पर वे कभी-कभी नाराज हो जाती थीं। एक बार श्रीमती ललिता देवी एक नौकर द्वारा ठीक तरह से काम न करने के कारण नाराज हो गईं और उसे फटकारने लगीं। शास्त्रीजी ने जो देखा, तो बोले, "नौकरों के साथ विनम्रता से पेश आना चाहिए, डाँट-डपट नहीं करनी चाहिए; तभी तो वे दिल लगाकर काम किया करेंगे।" इसपर ललिता देवी बिगड़ उठीं; बोलीं, "नौकरों पर यदि अंकुश न रखें, तब वे तो मनमानी ही करने लगेंगे। उनकी गलतियाँ तो उन्हें बतानी ही चाहिए।" इसपर शास्त्रीजी हँसते हुए बोले, "तुम्हें तो इस शेर का अनुकरण करना चाहिए—

कुदरत को नहीं पसंद है सख्ती बयान में।
इसीलिए तो दी नहीं उसने हड्डी जबान में॥"

३. निरभिमान

एक रात्रि पं० जवाहरलालजी सोने की तैयारी कर रहे थे, कि उनके टेलीफोन की घंटी बज उठी। रिसीवर उठाकर उन्होंने कहा, "हलो।"

उत्तर मिला, "देखिये, मुझे पं० नेहरू से कुछ आवश्यक बातें करनी हैं।

"आप कौन साहब बोल रहे हैं? नेहरूजी ने पूछा।

"मैं.........राज्य का मिनिस्टर ऑफ...बोल रहा हूँ। मैं

प्रदेश कांग्रेस की वर्किंग कमेटी का मेंम्बर और ए. आई. सी. सी. का डेलीगेट भी हूँ। मेरा नाम है पद्मश्री""। आप कौन साहब बोल रहे हैं ?"

"जवाहरलाल," जवाब मिला।

४. संभाषण प्रियता

स्व. राजेन्द्र प्रसाद जी अपने गाँव जीरादेई जा रहे थे। नौका में एक मुसाफिर ने सिगरेट सुलगाई। उसके धुएँ से राजेन्द्रबाबू को खाँसी उभर आई, किंतु उस मुसाफिर का इस ओर बिलकुल ध्यान न था। जब सिगरेट की गंध असह्य हो उठी, तो राजेन्द्रबाबू ने उस मुसाफिर से प्रश्न किया, "ई सिगरेटवा आपने न ह ?" (यह सिगरेट आपकी ही है न ?)।

जवाब मिला, "मेरी नहीं, तो क्या आपकी है ?"

राजेन्द्रबाबू बोले, "त ई धुअवाँ भी आपन हीं के होई। काहेन एकरी संजो के रखत बानी, दोसरा पर काहे फेंकत बानी)" (तो यह धुआँ भी तो आपका ही होगा। इसे अपने पास न रख दूसरों पर क्यों फेंकते हैं ?)।

और कहने की आवश्यकता नहीं, उस मुसाफिर ने राजेन्द्रबाबू से क्षमा माँगते हुए सिगरेट फेंक दी।

५. पेशे का चुनाव

तिलक जी ने जब वकालत की परीक्षा पास की, तो उनके मित्रों की धारणा थी कि वे या तो सरकारी नौकरी

करेंगे, अथवा वकालत चालू करेंगे। उन्होंने जब इस संबंध में चर्चा की तो वे बोले, "मैं पैसे का लोभी नहीं हूँ। पैसे के लिए मैं सरकार का गुलाम बनना पसंद नहीं करता। रही वकालत की बात, तो मुझे यह पेशा भी पसंद नहीं। मैं तो 'सा विद्या, या विमुक्तये' (विद्या वह, जो मुक्ति देवे) —इस सूक्ति को मानता हूँ। जो विद्या मनुष्य को असत्याचरण की ओर प्रवृत्त करती है, उसे मैं 'विद्या' ही नहीं मानता।"

इसपर मित्र चुप रहे, किंतु कुछ दिनों पश्चात् जब उन्हें मालूम हुआ कि तिलकजी ३० रु० मासिक वेतन पर प्राथमिक शाला के विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं, तो उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उनके एक घनिष्ठतम मित्र से न रहा गया और वह बोल ही उठा, "आखिर तुमने 'गुरुजी' का पेशा ही चुना। तुम भली-भाँति जानते हो कि आजकल शिक्षकों की आर्थिक स्थिति कैसी है? अरे तुम जब मरोगे, तो तुम्हारे दाह-संस्कार के लिए तुम्हारे घर में लकड़ियाँ तक न मिलेंगी।"

तिलकजी ने हँसकर जवाब दिया, "मेरे दाह-संस्कार की चिंता मैं क्योंकर करूँ? हमारी नगरपालिका क्यों बनी हुई है? मेरी चिता की चिंता उसे होगी। वही सामग्री जुटाएगी और उससे मेरी चिता जलेगी।" यह सुनते ही वह मित्र अवाक् रह गया और उससे कुछ न कहते बना।

६. सदाचार

एक बार गाँधीजी बंबई मेल से तीसरे दर्जे में यात्रा कर

रहे थे। उन्होंने देखा कि एक यात्री को बार बार खाँसी आ रही है। वह व्यक्ति जोर-जोर से खाँसता तो था. किंतु समीप ही नीचे थूकता जाता था। बापू दो बार तो शांत बैठे रहे, किंतु वह व्यक्ति जब तीसरी बार थूकने को उद्यत हुआ तो उन्होंने अपने हाथ उसके मुख के नीचे रख दिये, जिससे सारा कफ उनके हाथों में गिर पड़ा। बापू ने फौरन उसे डिब्बे के बाहर फेंककर हाथ धो डाले।

यह देख वह यात्री अत्यंत ही लज्जित हुआ और उसने गाँधीजी से क्षमा माँगी। तब उन्होंने उसे समझाते हुए कहा, "देखो भाई, यह गाड़ी अपनी ही है। यदि इसका दुरुपयोग करोगे, तो हानि अपनी ही होगी। दूसरे, गाड़ी के अन्दर थूकने से बीमारी दूसरों तक फैलाने की आशंका रहती है, इसीलिए मैंने तुम्हारे कफ को यहाँ गिरने न दिया।"

माँगना एक लज्जास्पद कार्य है। अपने उद्योग से कोई वस्तु प्राप्त करनं ही सच्चे मनुष्य का कर्तव्य है।

—महात्मा गाँधी

एक कर्म है बोना उपजै बीज बहुत।
एक कर्म है गूँजना उदय न अंकुर सूत॥ —कबीर

अमेरिका में उच्च शिक्षा

श्री श्यामनारायण शुक्ल, कोलंबस ओहियो, अमेरिका

उच्च शिक्षा के लिए यूरोप, आस्ट्रेलिया अथवा अमेरिका के किसी अच्छे विश्वविद्यालय में अध्ययन की महत्त्वाकांक्षा हममें से अनेक भारतीय विद्यार्थियों के मन में रहती है। अच्छे स्तर की शिक्षाप्राप्ति से स्वांतः सुख, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि के सिवाय दूसरे देशों के जन-जीवन के संबंध में जानने की तथा देश भ्रमण की दबी हुई अभिलाषा भी मन में होती है। प्रस्तुत लेख में हम अमेरिकी विश्वविद्यालयों में शिक्षा पद्धति तथा इस नई पद्धति में भारतीय विद्यार्थी की समस्यायों पर विचार करेंगे।

भारत से अमेरिका आने पर सर्वप्रथम दर्शन होते हैं किसी महानगरी के—न्यूयार्क, लासेंजलस अथवा मांट्रियाल (केनेडा) के। वहाँ गगन चुंबी अट्टालिकाएँ, चौड़ी एवं साफ सुथरी सड़कें, सड़कों पर एक के पीछे दूसरी अनगिनत मोटर गाड़ियों की कतारें, रात्रि में विद्युत प्रकाश से चमचमाती सड़कें और दुकानें, जमीन के नीचे चलने वाली रेलगाड़ियाँ आदि देखकर हम खो जाते हैं। आनंद, आश्चर्य, भय आदि के सम्मिश्रण का अनुभव मन में एक साथ होता है। एक-दो दिन वहाँ बिताकर हम अपने विश्वविद्यालय के शहर में आते हैं।

हममें से अधिकांश ऐसे कालेजों से आते हैं जहाँ

विद्यार्थी-संख्या एक-दो हजार के लगभग होती है। यहाँ के अनेक विश्वविद्यालयों में बीस-तीस हजार विद्यार्थी हैं। रहने की व्यवस्था करने के बाद आप विश्वविद्यालय में प्रवेश का कार्यक्रम पूर्ण कीजिये। अनेक कार्यालयों में आपको जाने होंगे और वहाँ अनेक फार्म भरने पड़ेंगे। सबसे पूर्व अंतर्राष्ट्रीय-विद्यार्थी कार्यालय के प्रमुख अधिकारी से मिलिये तथा अपना नाम दर्ज कराइये। वहाँ से प्रवेश-कार्यालय (office of admissions) जाइये और अपने (schedule cards) लीजिये। ये कम्प्यूटर द्वारा छेद किये गये ४-५ कार्ड होते हैं जिन्हें अपने डिपार्टमेंट के उस प्राध्यापक से, जो आपका निर्देशक (advisor) नियुक्त हुआ है, सलाह लेकर भरिये। उस क्वार्टर अथवा सेमेस्टर में क्या क्या विषय पढ़ाये जायेंगे तथा कौन कौन से विषय आपको लेने होंगे यह अपने प्राध्यापक से ज्ञात होता है। अधिकांशतः यह तय नहीं रहता कि अपना निर्देशक आप किस प्राध्यापक को चुनेंगे। ऐसी स्थिति में अपने डिपार्टमेंट के प्रमुख अथवा ग्रेजुएट कमिटी के चेयरमन से यह सलाह लेनी होगी। इसके बाद धीरे धीरे आपको स्वतः ज्ञात हो जायगा कि किस प्रोफेसर के पास क्या रिसर्च-प्रोजेक्ट है। तब आप यह भी जान लेंगे कि अपनी थीसिस के लिये कौन सा प्रोजेक्ट उपयुक्त रहेगा। Schedule cards पर प्राध्यापक के हस्ताक्षर लेकर उन्हें ग्रेजुएट स्कूल एवं रजिस्ट्रार के कार्यालय में ले जाइये। फीस पटाने के बाद आप उस विश्वविद्यालय के छात्र हुए।

यदि आप डिपार्टमेंट में रिसर्च अथवा अध्यापन के लिये सहायक नियुक्त हैं तो १० या १२ कक्षाएँ प्रति सप्ताह से अधिक के लिये आप रजिस्टर नहीं हो सकते। यहाँ सप्ताह में ४० घन्टे कार्य होता है— सोमवार से शुक्रवार, ८ घन्टे प्रतिदिन। कार्य का समय, ८ बजे प्रातः से १२ बजे दोपहर एवं १ बजे से ५ बजे शाम तक होता है। बीच में १ घन्टा भोजन की छुट्टी होती है। शनिवार और रविवार को पूरी छुट्टी रहती है। अधिकांश स्नातक विद्यार्थी आधे समय के लिये नियुक्त होते हैं, अर्थात् सप्ताह में २० घन्टे काम के लिये। ये २० घन्टे आप अपनी और अपने निर्देशक की सुविधा के अनुसार तय कर सकते हैं। आपकी सुविधा को प्रधानता दी जायेगी। यदि आप अध्यापन सहायक हैं तो या तो आपको नीचे की कक्षाओं के कुछ विषय पढ़ाने पड़ेंगे अथवा विद्यार्थियों के गृह कार्य (assignmonts) जाँचने और सुधारने पड़ेंगे। यदि आप केवल अध्यापन कर रहे हों तो सप्ताह में ४ ५ पीरियड पढ़ाने होंगे क्योंकि आपको उसकी तैयारी और गृह-कार्य जाँचने का समय भी चाहिये। आप यदि रिसर्च के लिये सहायक नियुक्त हैं तो लेबोरेटरी में उस विशेष प्रोजेक्ट के लिये काम करना होगा। कभी कभी वही प्रोजेक्ट आप अपनी थीसिस के लिये भी ले सकते हैं। इस तरह समय बच जाता है।

आप यह भी जान लें कि क्वार्टर और सेमेस्टर क्या हैं तथा मास्टर एवं डाक्टरेट की डिग्री के लिये आपको कितनी पढ़ाई करनी पड़ती है। क्वार्टर पद्धति में, गर्मी के

तीन माह को छोड़कर शेष ९ महीने तीन क्वार्टरों में बाँट दिये गये हैं -Fall, Winter एवं Spring । प्रत्येक क्वार्टर में १० सप्ताह कक्षाएँ लगती हैं । बीच में १०-१५ दिन परीक्षाओं में, परिणाम निकालने में तथा प्रत्येक विद्यार्थी को उसका परिणाम भेजने में लग जाता है । परीक्षाओं के परिणाम समाचार-पत्रों में प्रकाशित नहीं होते । सेमेस्टर पद्धति में पढ़ाई के ९ महीनों को दो भागों में बाँटा जाता है । इस तरह साल में दो सेमेस्टर होते हैं । अनेक विश्वविद्यालयों में ग्रीष्म (जुलाई से सितंबर) में भी कुछ विषय पढ़ाये जाते हैं । यदि कोई विषय सप्ताहमें ३ पीरीयड का है तो उसके ३ क्रेडिट घन्टे बनते हैं । ५ पीरियड प्रति सप्ताह वाले विषय के ५ क्रेडिट घन्टे आपको मिलेंगे । मास्टर की डिग्री के किये कम से कम ३६ क्रेडिट घंटे के विषय पढ़ने होंगे तथा उसके सिवाय थीसिस भी लिखना होगा । कुछ डिपार्टमेंट में थीसिस की आवश्यकता नहीं होती । उस स्थिति में आपको ५४ क्रेडिट घन्टे के विषय लेने होंगे और एक विशेष परीक्षा देनी होगी । डॉक्टरेट डिग्री के लिये मास्टर डिग्री के उपरांत कम से कम ४५ घंटे का कोर्स लेना पड़ता हैं । थीसिस मिलाकर ९० क्रेडिट घंटे पूरे करने पड़ते हैं । डाक्टरेट के लिये प्रायः ६०-७० क्रेडिट घंटे के कोर्स हो जाते हैं, ४५ घंटे तो न्यूनतम हैं । ग्रेजुएट स्कूल द्वारा तय किये गये न्यूनतम क्रेडिट घंटों से हमेशा ही अधिक कोर्स लेना पड़ जाता है । कितने विषय आपको लेने होंगे वह आपके निर्देशक (advisor) पर निर्भर रहता है ।

कक्षाएँ प्रारंभ होने के पूर्व आपको कुछ परीक्षाएँ भी देनी होंगी। इस देश में बोली जाने वाली अंग्रेजी को आप कितना समझते हैं इसकी एक परीक्षा होगी। इसमें प्रायः २५ प्रतिशत भारतीय अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। दूसरी परीक्षा होती है अंग्रेजी व्याकरण में, जो काफी सरल होती है। इसके सिवाय कुछ डिपार्टमेंट में आपके मुख्य विषयों में भी परीक्षा होती है। यदि परीक्षाफल असंतोषजनक रहा तो उन विषयों के कुछ कोर्स आपको लेने होंगे, जो नीची कक्षाओं के होंगे और जिनके क्रेडिट आपको नहीं मिलेंगे।

कुछ ही दिनों बाद आपको शहर के कुछ परिवारों से उनके साथ एक दो दिन बिताने अथवा केवल भोजन के लिये निमंत्रण मिलेगा। आपका पता उन्हें अंतर्राष्ट्रीय विद्यार्थी कार्यालय से प्राप्त होता है। कभी कभी अंतर्राष्ट्रीय-विद्यार्थी कार्यालय आपसे पहले ही यह पूछ लेता है कि आप श्वेत परिवार के मेहमान बनना पसंद करेंगे अथवा नीग्रो परिवार के; आप शाकाहारी हैं अथवा मांसाहारी; कोई विशेष भोजन से आपको परहेज तो नहीं है, आदि। आपके द्वारा भेजे गये उत्तर के अनुसार ही वे आपके लिये मेजबान चुनेंगे। आपका भी कर्तव्य होता है कि आप अपने मेजबान परिवार के लिये भारत से लाई छोटी सी भेंट ले जायँ। यद्यपि विदेशियों से, जो यहाँ के रीति-रिवाजों से परिचित नहीं हैं,अमेरिकन मेजबान यह अपेक्षा नहीं करेंगे; तथापि यदि उस परिवार में बच्चे हों तो उनके लिये कुछ मिठाइयाँ अथवा गृहिणी के लिये कुछ फूल ही रख लीजिये।

इस परिवार के साथ आप बाद में भी हमेशा के लिये संबंध बनाये रख सकते हैं। नये अंतर्राष्ट्रीय विद्यार्थियों का एक पिकनिक भी आस पास के झीलतट अथवा उद्यान में होगा जिसके लिये आपको आमंत्रण मिलेगा। प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय में अंतर्राष्ट्रीय विद्यार्थी परिषद् तथा भारतीय विद्यार्थी परिषद् नामक संस्थाएँ होंगी जिनकी सदस्यता ले लेनी चाहिये। भारतीय विद्यार्थी परिषद् हिन्दी चल चित्रों के प्रदर्शन, स्वतंत्रता दिवस, दिवाली, गणतंत्र दिवस, पिकनिक, वाद-विवाद आदि का आयोजन करती है।

पढ़ाई के पहले ही सप्ताह से आपको गृह-कार्य मिलना प्रारंभ हो जायेगा। प्रायः हर विषय में प्रति सप्ताह नियमित रूप से काम मिलता है। दूसरे सप्ताह तक उसी दिन वह पूरा करके देना होता है। निर्देशक गृह-कार्य में प्राप्त अंकों का हिसाब रखते हैं। हर तीसरे सप्ताह एक घंटे की एक परीक्षा होगी, अन्तिम परीक्षा दो घंटे की होगी। गृह कार्य एवं परीक्षाओं में आपके प्राप्त अंकों के अनुसार शिक्षक आपको 'ग्रेड' देगा। A से लेकर E तक के ग्रेड दिये जाते हैं। A सर्वोत्तम श्रेणी है तथा D उत्तीर्ण होने की निम्नतम श्रेणी है। E अनुत्तीर्ण श्रेणी होती है। स्नातक विद्यार्थी (मास्टर एवं पी-एच० डी० के विद्यार्थी) को B श्रेणी पाना आवश्यक रहता है। यदि सभी विषयों का औसत ग्रेड B से नीचे गया तो विद्यार्थी को चेतावनी मिलती है। दूसरे क्वार्टर तक उसने अपनी

श्रेणी ठीक नहीं कर ली तो उसे वह विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ता है। सर्वसाधारण रूप से एक घंटे के लेक्चर के पीछे घर में प्रायः ३ घंटे आपको अध्ययन और गृह कार्य में लगते हैं। सफलता पूर्वक विषयों का अध्ययन समाप्त करने के बाद पी-एच० डी० के विद्यार्थियों को एक Qualifying examination (योग्यता परीक्षा) देनी पड़ती है जिसमें मुख्य और गौण विषयों में विद्यार्थी की योग्यता देखी जाती है। विद्यार्थी के सभी विषयों के प्रोफेसरों की एक समिति बनती है जो परीक्षा लेती है। इसमें कम से कम ५ प्रोफेसर होते हैं। लिखित परीक्षा के बाद एक मुखाग्र परीक्षा होती है। इन सब में उत्तीर्ण होने के बाद ही विद्यार्थी पी-एच० डी० के उपयुक्त माना जाता है। उस परीक्षा के पूर्व एक या दो विदेशी भाषाओं में भी परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ती है। वैज्ञानिक एवं यांत्रिकी विषयों के लिये प्रायः रूसी, जर्मन एवं फ्रेंच भाषाओं में से चुनना पड़ता है। इसके लिये नियमित कक्षाएँ भी चलती हैं। थीसिस पूरा करने के बाद उसकी जाँच के लिये भी उस क्षेत्र के विशेषज्ञ ३ प्राध्यापकों की समिति बनाई जाती है जो मुखाग्र परीक्षा लेती है।

सन् १८५० के लगभग तक अमेरिका के विश्वविद्यालयों में अध्ययन अपेक्षाकृत सरल था। विशेषकर विदेशी छात्रोंपर उतनी कड़ाई नहीं बरती जाती थी। शिक्षित और अशिक्षित व्यक्तियों के वेतनों में अधिक अन्तर नहीं था, अतः यहाँ के लोगों में उच्च शिक्षा के लिये स्पर्धा नहीं थी। पर आज स्थिति बिलकुल बदल गई है। और शीघ्रता से

बदलती जा रही है। द्वितीय महा युद्ध के बाद अनेक प्रसिद्ध यूरोपीय प्राध्यापक यहाँ आये जो शिक्षा का स्तर बढ़ाने के लिये कटिबद्ध थे। लोगों ने यह भी देखा कि अनेक विदेशी छात्र यहाँ हमेशा के लिये रह जाते हैं और नौकरी के लिये अमेरिकनों से स्पर्धा का प्रश्न आता है। अतः विदेशी छात्रों के लिए अब विशेष सुविधा का प्रश्न तो दूर रहा, उन्हें कहीं अधिक मिहनत करनी पड़ती है। प्राध्यापकों और विद्यार्थियों से प्रश्नोत्तरी द्वारा कुछ संस्थाएँ प्रतिवर्ष विभिन्न विश्वविद्यालयों के स्तर का सर्वे (Survey) करती हैं। ऊँचासे ऊँचा स्थान पानेके लिये बड़े विश्वविद्यालयों में होड़ सी लगी है और इसके कारण विद्यार्थी का जीवन कष्टप्रद होता जा रहा है। शिक्षा के अनुसार वेतन-मान में भी अंतर बढ़ता जा रहा है क्योंकि अब यहाँ निम्नकोटि के कार्यों के लिये लोगों की कमी नहीं रही। विद्यार्थियों की संख्या तीव्रगति से बढ़ती जा रही है और साथ ही सभी क्षेत्रों में स्पर्धा भी। समय की माँग के अनुसार पाठ्यक्रम बदलता जा रहा है। जो बातें ५ वर्ष पूर्व पढ़ाई जाती थीं, उनमें से अनेक पाठ्यक्रम से निकाल दी गई हैं और उनके स्थान पर आधुनिक एवं उपयोगी पाठ रखे गये हैं। इसी कारण हम भारतीय विद्यार्थी सभी क्षेत्रों में कठिनाई अनुभव करते हैं। कभी कभी उस स्तर पर पहुँचने के लिये कुछ लोगों को नीचे की कक्षाओं के विषय पढ़ने पड़ते हैं जिसका क्रेडिट नहीं मिलता और इस प्रकार कार्यक्रम पूरा करने में अधिक समय लग जाता है।

यहाँ कालेज में अध्ययन के लिये आने वाले हाई स्कूल के छात्रों को गणित लेना आवश्यक रहता है। कालेज के एक-दो वर्ष भी कुछ गणित लेना पड़ता है। आगे रिसर्च के लिये प्रायः सभी विषयों में, चाहे वह कला हो, विज्ञान हो अथवा यांत्रिकी हो, गणित एवं कंप्यूटर की आवश्यकता होती है। कितना दुर्भाग्य है कि भारत में यह समझा जाता है कि प्राणि-शास्त्र पढ़ने वाले या मेडिकल में जाने वाले छात्रों को हाई स्कूल में भी गणित की आवश्यकता नहीं है!

अनेक लोगों के मन में यह भ्रामक धारणा है कि अमेरिका में पढ़ाई कम तथा मनोरंजन अधिक है। पर वस्तु स्थिति यह है कि यहाँ पढ़ाई भी अधिक करनी पड़ती है। तथा मनोरंजन के साधन भी अधिक हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ के विद्यार्थी को अपने मन पर संयम की अधिक आवश्यकता है और इसलिये अच्छे विद्यार्थी ही कालेज की पढ़ाई पूरी कर पाते हैं। टेलीविज़न में आकर्षक कार्य क्रम, अपनी प्रेमिका girl friend का सामीप्य, कार से नदी या झील के तट पर भ्रमण आदि का लोभ सँवरण करके उसे पढ़ाई में मन लगाना पड़ता है। यह बात नहीं कि सभी विद्यार्थी यहाँ एक-सा परिश्रम करते हैं। कुछ विभागों में, विशेष कर कला एवं शिक्षा के विद्यार्थी अपेक्षाकृत आराम में रहते हैं। इन विभागों के अनेक विषयों में परीक्षा न होकर केवल टर्म पेपर देना होता है। कई कोर्स केवल सेमिनार के होते हैं। पर रसायन, भौतिक शास्त्र, गणित और यांत्रिकी के विद्यार्थी काम के

बोझ से लदे रहते हैं। कई बार एक ही विभाग में एक प्रोफेसर अपने विद्यार्थियों को दूसरे की अपेक्षा अधिक विषय लेने की सलाह देता है। एड-वाइजर या निर्देशक प्रायः इस मामले में सर्वाधिकारी हैं। भाग्य अच्छा रहा तो ऐसे प्रोफेसर मिल जाते हैं जिनकी छत्र-छाया आप पर पितृ-तुल्य रहेगी। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो आपको पढ़ाई के कार्यक्रम के सिवाय आपसे दूसरी बातें करना पसंद नहीं करेंगे तथा उस संबंध में भी उनसे मिलने के लिये २-३ दिन पहले से ही समय लेना पड़ेगा। इस तरह, कभी कभी एक ही विश्वविद्यालय में, एक ही विभाग में और उसी डिग्री के लिये कार्य के परिमाण एवं स्तर में काफी अंतर रहता है। अस्तु।

अमेरिकन विश्वविद्यालय में अध्ययन के लिये आने वाले विद्यार्थी को यहाँ कम से कम एक वर्ष कड़े परिश्रम की तैयारी से आना चाहिये। इस बीच वह स्वयं जान लेता है कि यहाँ की नई पद्धति और नये वातावरण में वह अपने को कैसे ढाले। वह इस बीच यहाँ के जन-जीवन और आचार-विचार का भी अध्ययन और परीक्षण कर सकता है और तदनुसार कितना समय एवं धन मनोरंजन के लिये उसे लगाना चाहिए यह निर्णय कर सकता है। कई बार अज्ञानतावश अनेक विद्यार्थी जो केवल मनोरंजन के लिये अमेरिका में पढ़ने के बहाने आते हैं, असफलता प्राप्त करते हैं और विश्वविद्यालय द्वारा निकाले जाने के बाद उन्हें अमेरिका भी छोड़ देना पड़ता है।

—•—

"गौतम बुद्ध और उनके उपदेश"

प्राध्यापक रमेश भारद्वाज, चिरिमिरी

"देह में भस्म रमाने, उपवास रखने, भूमि पर सोने से ही किसी का कल्याण नहीं हो सकता। ऐसे कर्म मनुष्य को अपने किए हुए पापों के फल भोगने से नहीं बचा सकते। श्रेष्ठता योग्यता में है, जाति और जन्म में नहीं। सत्कर्म, सच्चरित्र, दया और अहिंसा ही वास्तविक धर्म है।"

विश्व के कोने-कोने में शांति, अहिंसा, सदाचार और सौहार्द का संदेश पहुँचाने वाला बौद्धधर्म जिसे विश्व-धर्म भी कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का जन्म एक राजघराने में ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में हिमालय की तराई के कपिलवस्तु नामक स्थान में हुआ था। आपके पिता का नाम राजा शुद्धोदन और माता का नाम मायादेवी था। आपका वास्तिक नाम सिद्धार्थ कुमार था। बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि युक्त राजकुमार का लालन पालन अत्यन्त ही ऐश्वर्य एवं वैभव पूर्ण वातावरण में हुआ।

कहा जाता है कि जब आप गर्भ में थे तब आपकी माताजी ने एक अद्भुत स्वप्न देखा की आकाश से एक अत्यन्त उज्ज्वल ज्योति चमकते हुए तारे के रूप में नीचे उतरी और उनके पेट में समा गई। वस्तुतः तभी से उनके हर्ष का पारावार न रहा।

बड़े-बड़े मंत्रियों, राजदरबारियों, प्रजाजन के साथ ही एक दिन एक श्वेत जटाधारी दिव्य साधु भी राजकुमार के दर्शनार्थ राजदरबार में उपस्थित हुए। बालक की मुखाकृति एवं हस्तरेखाओं में उस महात्मा को अनेक दिव्य एवं अलौकिक लक्षण दीख पड़े। उन्होंने उसी समय भविष्यवाणी की– "राजकुमार के अंग प्रत्यंग में ऐसे विचित्र लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं जो अवर्णनीय हैं। यह राजकुमार कोई साधारण व्यक्ति नहीं अपितु एक बहुत बड़े महापुरुष हैं। इनके दिव्य लक्षण स्पष्ट संकेत दे रहे हैं कि या तो ये बहुत बड़े महात्मा होंगे और विश्व को परम कल्याण का मार्ग दिखायेंगे अथवा समस्त संसार पर राज्य करने वाले ओजस्वी देदीप्यमान चक्रवर्ती राजा होंगे।" महात्मा की भविष्य वाणी अन्ततः सत्य सिद्ध हुई और महात्मा बुद्ध ने विश्व को अनेक कल्याणकारी तत्त्व प्रदान किये।

बचपन की एक घटना उनके स्वभाव एवं करुणायुक्त हृदय की ओर इंगित करती है। एक दिन उनके चचेरे भाई देवदत्त ने एक कबूतर को तीर मारा। वह फड़फड़ाकर नीचे गिर गया और पीड़ा से तड़पने लगा। सिद्धार्थ अपने भाई का यह कुकृत्य देखकर बहुत दुखी हुए। वे उस कबूतर के पास गये और उसे उठाकर छाती से लगा लिया। धीरे से बाण निकाला और अपने वस्त्रों से ही उसका रक्त पोंछ डाला। देवदत्त के कबूतर माँगने पर आपने देने से इन्कार करते हुये कहा— "इस पक्षी की मैंने प्राण रक्षा की

है अतएव इस पर मेरा अधिकार है। तुमने तो इसे मार डालने में कोई कसर बकाया नहीं रखी थी।"

राजा शुद्धोदन चाहते थे कि राजकुमार सिद्धार्थ चक्रवर्ती राजा बने, न कि महात्मा या संन्यासी। अतएव किशोरावस्था के प्रारम्भ में ही माता-पिता ने उनका विवाह एक अत्यन्त ही सुन्दर राजकन्या यशोधरा से कर दिया। उनके एकान्त सेवन एवं चिन्तन की वृत्ति को देखकर इस डर से कि सिद्धार्थ कहीं गृहत्याग न कर दे, राजा शुद्धोदन ने राजमहल में ही ऐसा प्रबंध करवा दिया कि इनके सम्मुख ऐसी कोई वस्तु न आने पाये जिसे देखकर राजकुमार के मन में दुख या अशांति उत्पन्न हो। बचपन में वे सुख-वैभव एवं ऐश्वर्य पूर्ण वातावरण में पले। किशोरावस्था में रूपवती पत्नी के साथ भोग-विलास में लिप्त हो गये थे और जब उनकी सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न हुई तब पिता ने उनके चारों ओर सुख-सुविधा और ऐश्वर्य की दीवार खड़ी कर दी। फलस्वरूप अभी तक उन्हें संसार के प्राणियों के वास्तविक दुख, कष्ट एवं स्थिति का ज्ञान न हो पाया था। उन्हें नहीं मालूम था कि संसार में सभी लोगों को उनके समान सुख एवं ऐश्वर्य प्राप्त नहीं है। वह नहीं जानते थे कि मनुष्य रोग शोक दीनता दुर्बलता एवं मृत्यु से ग्रस्त है।

एक दिन नर्तकी के गायन में बाहरी दुनिया की झलक पड़ी और राजकुमार ने अपने हाते से बाहर की

दुनिया देखने की इच्छा व्यक्त की। राजा ने उनके जाने का प्रबंध किया; ऐसी सुन्दर व्यवस्था की कि राजकुमार को मार्ग में कोई ऐसी वस्तु न दीख पड़े जिससे उन्हें तनिक भी क्लेश पहुँचे। किन्तु राजा का यह प्रबंध सफल न हो सका। सिद्धार्थ कुमार रथ पर बैठ कर घूमने निकले तो क्रमशः प्रत्येक दिन उन्हें वृद्ध, रोगी, जर्जर एवं मृतक व्यक्ति देखने को मिल ही गये। अपने सारथी चन्ना से पूछने पर उन्हें विदित हुआ कि वृद्धावस्था सभी को आती है और सभी की इस अवस्था में यही दशा हो जाती है; संसार भयंकर रोगों का अस्तित्व है और कई व्यक्ति रोगों से पीड़ित हैं। प्रत्येक प्राणी को मृत्यु अवश्य आती है।

जरा, रोग और मरण के दयनीय दृश्यों को देखकर सिद्धार्थ कुमार का हृदय विकल हो गया। वे चिन्ता में लीन हो गये। रह रहकर उनके मन में यही आता था कि जब तक इन दुखद अवस्थाओं से बचने का उपाय न ज्ञात हो जाय, भोग विलास, सुख वैभव सब निरर्थक है। जिस वैभव से एक साधारण मनुष्य की मृत्यु से रक्षा नहीं की जा सकती, उसका महत्व ही क्या! जब एक दिन मेरी भी यही गति होगी तो ऐसे क्षण भंगुर जीवन के मोह में मैं क्यों फसूँ ? अब जीवन उन्हें अत्यन्त ही दुखमय प्रतीत होने लगा।

एक दिन सैर करते हुए वे इस विचार में लिप्त थे कि क्या इन दुखों से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं है,

तभी एकाएक उनकी दृष्टि एक संन्यासी पर पड़ी जो एक वृक्ष के नीचे धूनी रमाये बैठा था। विपन्नता के बीच भी वह प्रसन्न और संतुष्ट था। सारथी से उन्हें मालूम हुआ कि वह गृहत्यागी सन्यासी है और उसने सांसारिक बंधनों से अपने सम्बन्धों को त्याग दिया है। सिद्धार्थ कुमार को प्रकाश की एक किरण मिल गई। राजमहल की सारी वस्तुएँ, धनधान्य, वैभव, ऐश्वर्य सभी तुच्छ प्रतीत होने लगे। उनके मनमें भावना उठी कि यही मार्ग मैं भी अपनाऊँगा। राजपाट सबसे संबंध तोड़ स्थिर चित्त से सच्चा ज्ञान प्राप्त कर विश्व को रोग, शोक, दुख, बुढ़ापा और मृत्यु से बचने का उपाय बताऊँगा। इसी उद्देश्य को अंगीकार कर आपने गृहत्याग कर संन्यास धारण करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। एक दिन आधी रात को अपनी धर्मपत्नी यशोधरा तथा सुपुत्र राहुल को सोये छोड़, माता पिता धन-धान्य, वैभव का मोह तोड़ वे दृढ़ता के साथ महल से बाहर निकल पड़े। सत्य एवं ज्ञान की प्राप्ति के लिये, संसार को दुखों से मुक्त करने के लिये उदार हृदय राजकुमार सिद्धार्थ ने सम्पूर्ण राजपाट, ऐश्वर्य-सुख और भोग-विलास का त्याग कर स्वेच्छया भिक्षुक सन्यासी का रूप धारण किया। मानवता के दुख-निवारणार्थ उन्होंने जो महान् त्याग किया, वह निसंदेह विश्व के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

राजमण्डल छोड़ने के बाद आप कुछ विद्वान पंडितों से मिले और धर्मशास्त्रों का भली भाँति अध्ययन किया।

पुस्तकीय ज्ञान से आपको संतोष नहीं हुआ क्योंकि इससे मानव के कष्ट मुक्त होने का उपाय नहीं प्राप्त हो सकता था। अतः आपने तपस्वी जीवन व्यतीत किया। आपने घोर तपस्या की। अन्न जल का त्याग कर तपस्या करते करते आप इतने दुर्बल हो गये कि शरीर में हड्डियों के अतिरिक्त कुछ न बचा। ६ वर्षों की घोर तपस्या से भी आपको संतोष प्राप्त नहीं हुआ। आपने अनुभव किया कि देह को कष्ट देने से भी कुछ विशेष लाभ नहीं। राजसुख का अनुभव तो आपको पहिले से ही प्राप्त था जो दुख मुक्ति तो नहीं बल्कि दुख वृद्धि का ही कारण था। कठोर तपस्वी जीवन का भी आपको अनुभव प्राप्त हो गया पर मानव के दुख दूर होने का उपाय उन्हें नहीं मिला। अतः अब आपने अच्छी तरह समझ लिया कि ऊपर की दोनों अतियाँ अर्थात् भोगविलास तथा घोर तपस्या दोनों निरर्थक हैं। अतएव आपने मध्यम मार्ग का अनुसरण उचित समझा।

उन्होंने कहा—"दो सिरे की बातें हैं। एक का कहना है—खाओ, पिओ और मौज उड़ाओ क्योंकि कल मरना है। दूसरे का कहना है— तमाम वासनाओं को आमूल नष्ट करने के लिये शरीर को सताओ, सुखाओ और कष्ट दो। ये दोनों बातें अग्राह्य है। इन दोनों के बीच राह है— मध्यम मार्ग। अपने आप पर विजय पाना मध्यम-मार्ग है। इससे न काम तृष्णा का जन्म होगा और न शरीर को कष्ट देने की आवश्यकता होगी। शरीर की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति में बुराई नहीं है। इस मध्यम मार्ग पर

चलने के लिये आत्मा या परमात्मा से कुछ लेना देना नहीं है। मेरे इस पथ का बिन्दु है मनुष्य। इस पृथ्वी पर रहते समय मनुष्य के लिये धर्म की यही आधार शिला है।"

अब वे भोग विलास तथा शरीर पीड़ा इन दोनों 'अतियों' को छोड़ मध्यमार्ग का अनुसरण करने लगे। मानवता के दुख निवारणार्थ उपाय जानने हेतु आप ध्यान में मग्न रहते और गहरी चिन्ता किया करते थे। गम्भीर मनन-चिन्तन करने आप गया के समीप पहुँचे। निरंजना नदी के तट पर एक बोधि वृक्ष के नीचे बैठ गये और प्रतिज्ञा की कि जब तक ज्ञान प्राप्त न होगा मैं यहाँ से नहीं उठूँगा। इस दृढ़ निश्चय का परिणाम यह हुआ कि एक दिन रात्रि के समय उन्हें दिव्य प्रकाश दिखाई दिया और उन्हें अनुभूति हुई कि वे अपने गन्तव्य पर पहुँच गये। आपके हृदयनेत्र खुल गये। आपने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। अब आप 'बुद्ध' हो गये। आपका विवेक जागृत हो गया। ज्ञान प्राप्ति के इस स्थान को आज भी 'बुद्ध-गया' के नाम से जाना जाता है।

अब वे इस निचोड़ पर पहुँचे कि संसार न्याय और सत्य के नाम से चलता है। प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होता है और कर्मफल से कोई बच नहीं सकता। संसार दुखमय है और सब दुखों का मूल कारण वासना है और वासना का कारण अज्ञान है। सभी पदार्थ अनित्य हैं। जब मनुष्य जन्म-मृत्यु के बंधन से छूट कर निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है तभी सच्चा सुख और शांति पाता है।

निर्वाण तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने अशुभ कर्मों का फल भोग चुकता है और वासना रहित हो जाता है। निर्वाण में सभी रोग-शोक,राग-द्वेष और वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं और मनुष्य पूर्ण शान्ति की प्राप्ति करता है।

महात्मा बुद्ध के उपदेशों का सार उनके सार आर्य सत्यों में निहित है। इन्हीं चार आर्य सत्यों का उपदेश उन्होंने जन साधारण के मध्य किया:—

(१) सांसारिक जीवन दुख पूर्ण है।
(२) दुखों का कारण होता है।
(३) दुखों का अन्त सम्भव है।
(४) दुखों के अंत का उपाय है।

गौतम बुद्ध के अन्य सभी उपदेश इन्हीं आर्य सत्यों से सम्बद्ध हैं।

चतुर्थ आर्य सत्य में बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। जिन कारणों के द्वारा दुख की उत्पत्ति होती है, उन्हें नष्ट करने का उपाय ही निर्वाण मार्ग है। महात्मा बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति के लिये जिस मार्ग को लोगों के सम्मुख रखा, उसके आठ अंग हैं। इसलिये इसे 'अष्टांग-मार्ग' भी कहा जाता है। यही बौद्ध-धर्म का सार है। यह गृहस्थ और संन्यासी सभी के लिये है।

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वाक (४) सम्यक् कर्म (५) सम्यक् आजीवन (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि।

शील, समाधि और प्रज्ञा अष्टांग-मार्गके प्रधान अंग हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार सदाचार और प्रज्ञा में अभेद्य सम्बन्ध है। यथार्थ ज्ञान और सदाचार दोनों एक दूसरे के लिये अनिवार्य हैं। अखण्ड समाधि से प्रज्ञा का उदय होता है और जीवन का रहस्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। अविद्या और तृष्णा समूल नष्ट हो जाते हैं, जो दुख के मूल कारण हैं। निर्वाण प्राप्ति के साथ ही पूर्ण प्रज्ञा पूर्ण शांति का आविर्भाव होता है।

महात्मा बुद्ध ने घूम घूम कर अपने नवीन ज्ञान का उपदेश दिया। लाखों-करोड़ों व्यक्ति बौद्ध-धर्म के अनुयायी हो गये। अनेक राजाओं ने जिनमें उनके पिता और बिम्बसार भी थे, नवीन मत को अंगीकार किया। धीरे-धीरे उनका संदेश दूर दूर तक फैल गया। उनका धर्म सबके लिए था। उसमें किसी के लिए भेदभाव न था। उनका कथन था कि "एक जाति दूसरी से श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठता योग्यता में है, जाति या जन्म में नहीं। देह पर भस्म रमाने, व्रत उपवास रखने, भूमि पर सोने से ही किसी का कल्याण नहीं हो सकता। ऐसे कर्म मनुष्य को अपने किये हुए पापों का फल भोगने से नहीं बचा सकते।" उन्होंने सत्कर्म पर बहुत जोर दिया, दया और अहिंसा को मानव धर्म की संज्ञा दी। लोगों को सादा जीवन और पवित्र विचारों की शिक्षा दी। यही कारण है कि देश-देशान्तरों में उनका धर्म द्रुतगति से प्रचलित हुआ और विश्व के कोने कोने में उसने शांति, अहिंसा, सदाचार और सौहार्द का संदेश पहुँचाया।

बौद्ध धर्म के कल्याणकारी उपदेशों का सच्चाई से अनुकरण किया जाय तो न केवल इस भू भाग में अपितु सम्पूर्ण विश्व में स्थायी शांति और सद्भावना की स्थापना हो सकती है और इसी में विश्व का कल्याण निहित है।

कविवर पंत की पंक्तियों में—

दुखों से निर्वाण प्राप्ति कर,
शांति अमृत लाये तुम जनहित;
दया; धर्म अष्टांग साधना,
भव जन को दी करुणा-प्रेरित।

खोया था अध्यात्म धूम में,
जन मन नैतिकता से उपरत;
कर्मकाण्ड रत भू को तुमने,
दिया सत्य दृढ़ तर्क बुद्धिगत।

—o—

माँगना एक लज्जास्पद कार्य है। अपने उद्योग से कोई वस्तु प्राप्त करना ही सच्चे मनुष्य का कर्तव्य है।

जो तोको काँटा बुवै

श्री संतोष कुमार झा

अन्य व्यक्तियों द्वारा किए गए व्यवहारों के प्रति व्यक्त हमारी प्रतिक्रिया हमारा आचरण है । यह प्रतिक्रिया हमारे आंतरिक चरित्र का बाह्य प्रकाशन है। अचेतन मन में पोषित प्रवृत्तियों द्वारा ही हमारा चेतन आचरण जाने अनजाने संचालित होता रहता है। चेतन मन द्वारा बार बार किए गए विचार, निरंतर ग्रहण किए गए संस्कार, धीरे धीरे अचेतन मन में प्रविष्ट हो जाते हैं। अचेतन मन में संचित इन्हीं संस्कारों का समूह हमारा चरित्र है। अतः यह सिद्ध होता है कि हमारे चरित्र और आचरण के निर्माता हम स्वयं हैं। दूसरा तथ्य यह प्रकट होता है कि हमारे चरित्र में कोई भी दोष क्यों न हो, कैसी भी दुर्बलता क्यों न हो, उसे दूर कर सच्चरित्रता का अर्जन और आचरण किया जा सकता है।

हमारे विचार और कार्य हमारे मन में संस्कार उत्पन्न करते हैं। अतः सदाचारी व्यक्तियों के आचरण और विचार हमारे चरित्र निर्माण में सहायक और उपयोगी होते हैं। महाभारत की निम्न कथा मानवचरित्र की एक बड़ी दुर्बलता को दूर करने का अमोघ उपाय हमें बताती है।

यह उस युग की कथा है, जब समाज के सभी वर्ण कर्म-प्रधान थे। सभी वर्णों के लोग अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार

अपना कर्त्तव्य निभाते थे। इस प्रकार कर्त्तव्य शील व्यक्ति ही समाज में सम्मान पाते थे। मध्यदेश में एक ब्राह्मण परिवार रहता था। उस परिवार में एक तमोगुणी उद्धत बालक का जन्म हुआ। बालक का नाम गौतम रखा गया। बचपन से ही वह दुष्ट, उद्दण्ड और मूढ़मति था। बड़े होने पर न तो उसने वेद आदि शास्त्रों का अध्ययन ही किया और न उसने तपस्या ही की। वह किसी प्रकार भिक्षा द्वारा अपनी जीविका प्राप्त कर लेता तथा शेष समय प्रमाद और आलस्य में नष्ट कर देता।

भिक्षा माँगता हुआ एक बार वह भील दस्युओं के गाँव में पहुँच गया। उन डाकुओं का सरदार दयालु और दानी था। ब्राह्मण को घर आया देख सरदार ने उसका स्वागत किया। उसने गौतम को भिक्षा में एक वर्ष के लिये पर्याप्त अन्न दे दिया। साथ ही एक मकान और एक तरुणी दासी भी सेवा के लिए दे दी।

गौतम उसी गाँव में रहने लगा। दुष्ट और मंदमति तो वह था ही, अब उसे क्रूर असभ्य भीलों का संग भी मिल गया। वह शीघ्र ही भीलों का मित्र हो गया। उसने उनसे धनुष आदि शस्त्रों का संचालन सीख लिया। वह भीलों के साथ बन को जाता, शिकार करता और मृत पशुओं का मांस खाता। क्रूर भीलों के साथ रह कर वह घोर तामसिक हो गया।

एक दिन उसी गाँव में भ्रमण करता हुआ एक परि-व्राजक ब्राह्मण आ पहुँचा। वह तपस्वी और सदाचारी

था। उसने वेदादि शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। गाँव में आकर उसने भीलों से किसी ब्राह्मण का घर पूछा, क्योंकि वह तामसिक और क्रूर कर्म में लगे व्यक्तियों द्वारा दी गई भिक्षा ग्रहण नहीं करता था। भीलों ने उसे गौतम ब्राह्मण का घर दिखा दिया। परिव्राजक द्वार पर ठहर कर गौतम की प्रतीक्षा करने लगा। उस समय गौतम घर पर नहीं था। थोड़ी देर पश्चात् तपस्वी ने देखा कि एक व्यक्ति जो आकृति से भील नहीं प्रतीत होता, उसी घर की ओर आ रहा है। किंतु यह क्या! उस व्यक्ति के कंधे पर मरे हुए हंसों की लाशें टँगी हैं! हंसों के रक्त से वह नहा सा गया है। उसके हाथ में धनुष है, कमर में खड्ग लटक रहा है। इतनी देर में वह व्यक्ति कुछ और पास आ गया। परिव्राजक ने आश्चर्य चकित होकर उसे देखा। अरे! यह तो उसके गाँव का ही ब्राह्मण कुमार गौतम है! उसे गौतम की दशा देख बड़ा दुख हुआ। साथ ही उस मूढ़ के इस जघन्य क्रूर कर्म को देखकर उसे क्रोध भी आया। अब तक गौतम भी अपने घर के द्वार तक आ गया था। उसने भी तपस्वी परिव्राजक को पहिचान लिया किंतु उससे कुछ बोलने का उसे साहस न हुआ।

गौतम को देखकर परिव्राजक ने उसे धिक्कारते हुए कहा, "दुर्बुद्धि गौतम! ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी तुमने यह राक्षस - कर्म अपना लिया है। अपने साथ तुमने अपने कुल और संपूर्ण ब्राह्मण वर्ण का नाम भी डुबा दिया। तुम्हें धिक्कार है।"

कुछ समय के लिए गौतम को भी अपनी हीन दशा पर बहुत दुख हुआ। उसने दुखित हृदय से अपने बालसखा से कहा, "भाई, तुम तो जानते ही हो कि मैंने वेद शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया है। किसी गुरु की सेवा में भी नहीं गया, और न कोई तपस्या ही की है। मेरे पास जीविका का कोई साधन नहीं था, अतः धन के लिए भिक्षा माँगता हुआ मैं इस गाँव में आ पहुँचा। यहाँ के सरदार ने मुझे पर्याप्त धन दिया, रहने को घर दिया, सेवा के लिये दासी दी। इसलिए अब मैं इसी गाँव में रहने लगा हूँ।"

गौतम की बातों का परिव्राजक ने कोई उत्तर न दिया। गौतम के अत्यंत आग्रह करने पर उसने रात्रि में गौतम के घर रहना तो स्वीकार कर लिया किंतु उसने उसके घर का एक बूँद जल भी ग्रहण न किया। प्रातः होते ही परिव्राजक अपनी यात्रा पर चल पड़ा। गौतम को भी अपनी दशा पर बड़ी ग्लानि हुई। उसने मन ही मन सोचा, यदि मुझे धन मिल जाय तो मैं इस क्रूर कर्म को छोड़कर आनन्द पूर्वक जीवन यापन कर सकता हूँ। ऐसा सोच वह अपनी शूद्र स्त्री और घर को छोड़ समुद्र तट की ओर धनप्राप्ति की आशा से चल पड़ा। मार्ग में उसकी भेंट व्यापारियों के एक यूथ से हो गई। वह उन्हीं के साथ हो लिया। जिस समय व्यापारियों का यह यूथ एक पहाड़ की तराई में विश्राम कर रहा था, हाथियों के एक दल ने उन पर आक्रमण कर दिया। कुछ व्यक्ति मारे गये और कुछ प्राण बचाकर भाग निकले। गौतम भी किसी प्रकार प्राण बचा

कर भागा। उसके प्राण तो बच गए, किंतु वह रास्ता भटक गया। भटकते हुए जंगल में उसे एक रास्ता दीख पड़ा। जंगल से बाहर निकलने की इच्छा से वह उसी रास्ते पर चल पड़ा। चलते चलते वह वन के एक सुरम्य भाग में पहुँच गया। वहाँ की भूमि बालुकामय थी। सभी ओर हरियाली छाई हुई थी। भाँति-भाँति के फलों और पुष्पों के वृक्ष थे। वह सुरम्य स्थान देख कर गौतम बहुत प्रसन्न हुआ। वह थक गया था। विश्राम के लिए वह किसी घने वृक्ष की खोज करने लगा। उसकी दृष्टि एक विशाल घने बरगद के वृक्ष पर पड़ी। वह उसकी छाया में चला गया। सोने के लिए थोड़ा स्थान साफ किया और वहीं सो रहा। जब उसकी नींद खुली तो दिन ढल चुका था। वह उठ बैठा। उसने देखा, चारों ओर पक्षी चहचहा रहे हैं। उसे भूख लग रही थी। उसकी दृष्टि सामने बरगद की डाल पर बैठे एक विशाल पक्षी पर पड़ी। पक्षी भी गौतम की ही ओर देख रहा था। गौतम सोचने लगा कि किस प्रकार मैं इस पक्षी को मार कर अपनी भूख मिटाऊँ।

गौतम मन ही मन इस कुटिल विचार में था कि उस पक्षी ने कहा, "ब्रह्मन्! आपका स्वागत है। आप मेरे अतिथि हैं, यह घर मेरा है। मैं बगुलों का राजा राजधर्मा हूँ। आप कृपया मेरा आतिथ्य स्वीकार करें और आज रात्रि यहीं विश्राम करें।"

पक्षी की मधुर वाणी सुन कर गौतम को आश्चर्य हुआ। उसने पक्षी का आतिथ्य स्वीकार कर लिया और

उससे कहा, "पक्षीराज! मैं बहुत भूखा हूँ। शीघ्र ही मेरे भोजन की व्यवस्था करो।"

राजधर्मा वहाँ से उड़ कर तुरंत एक नदी के तीर पर गया। उसने वहाँ से मोटी मोटी मछलियाँ लाकर ब्राह्मण को दीं। पास ही के गाँव में जाकर वह आग ले आया। सूखी लकड़ियाँ एकत्र कर दीं। गौतम ने आग सुलगाई। मछलियों को भूना और राजधर्मा को बिना कुछ अंश दिए ही सारी मछलियाँ स्वयं खा गया।

राजधर्मा ने गौतम के लिए कोमल पत्तों और फूलों का बिछौना लगा दिया। जब वह भोजन कर बिस्तर पर बैठा, तब राजधर्मा ने उससे उसका परिचय-गोत्र आदि पूछा और उसकी यात्रा का प्रयोजन जानना चाहा। गौतम नाम और गोत्र के अतिरिक्त और कुछ न बता सका। अपनी यात्रा के प्रयोजन के सम्बन्ध में उसने कहा, "पक्षीराज! मैं धन के अभाव में बहुत दुखी हूँ। धन की खोज में मैं समुद्र तट की ओर जा रहा था। रास्ता भटक जाने के कारण मैं तुम्हारे घर आ पहुँचा हूँ।"

राजधर्मा ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा, "ब्राह्मण देवता, तुम धन की चिंता न करो। अब तुम्हें धन के लिए समुद्र तट पर जाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ से थोड़ी दूर पर मेरुव्रज नाम का नगर है। वह मेरे परम मित्र राक्षसराज विरुपाक्ष की राजधानी है। वे बहुत उदार और दानी राजा हैं। मेरी प्रार्थना पर वे तुम्हें यथेष्ट धन देंगे। अतः अभी निश्चिंत होकर विश्राम करो।"

दूसरे दिन प्रातः काल शीघ्र ही गौतम ब्राह्मण राजधर्मा द्वारा बताए गए मार्ग पर चल पड़ा। सन्ध्या के पूर्व ही वह एक विशाल नगर के द्वार पर पहुँच गया। वह नगर चारों ओर ऊँची प्राचीरों से घिरा था। बलवान और भयंकर दीख पड़ने वाले राक्षसगण उसकी रक्षा में लगे थे। गौतम को देखकर द्वारपालों ने पूछा, "तुम कौन हो? कहाँ से आये हो? और किससे मिलना चाहते हो?"

भय मिश्रित स्वर में गौतम ने द्वारपालों से पूछा, "क्या यही मेरुव्रज नगर है?"

एक द्वारपाल ने कर्कश स्वर में कहा, "हाँ, यही मेरुव्रज नगर है।"

तब गौतम ने उसे बताया कि महाराज विरूपाक्ष के मित्र पक्षीराज राजधर्मा ने उसे उनके पास भेजा है।

सेवक ने जाकर राक्षसराज को गौतम का समाचार दिया। विरूपाक्ष की आज्ञा से गौतम दरबार में उपस्थित किया गया। राजा ने उससे परिचय पूछा। स्वाध्याय-तप-गुरु आदि के विषय में पूछा। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के सम्बन्ध में पूछा। किंतु मूढ़ गौतम अपने नाम और गोत्र के अतिरिक्त कुछ अधिक न बता सका। गृहस्थी के सम्बन्ध में उसने बताया कि उसकी स्त्री शूद्र जाति की है।

उस कुसंस्कारी नीच ब्राह्मण का परिचय पाकर राक्षस-राज विरूपाक्ष को दुख हुआ। किंतु गौतम को उसी के प्रिय सखा राजधर्मा ने उसके पास भेजा था, अतः उसने गौतम से उसके आने का प्रयोजन पूछा।

गौतम ने कहा, "महाराज! मैं धन की खोज में भटक रहा था। भटकते भटकते राजधर्मा के घर आ पहुँचा। उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है।"

लोभी गौतम की बात सुनकर विरूपाक्ष ने सेवकों को उसके ठहरने आदि की व्यवस्था करने का आदेश दिया। साथ ही उसने गौतम को दूसरे दिन ब्राह्मणभोज में सम्मिलित होने का निमंत्रण दे धन देने का भी आश्वासन दिया।

दूसरे दिन सैकड़ों ब्राह्मण विरूपाक्ष के घर पधारे। सभी का उचित आदर सत्कार किया गया। सोने के पात्रों में सबको सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन परोसा गया। भोजन के पश्चात् वे स्वर्ण पात्र भी ब्राह्मणों को दे दिये गए। स. ही दक्षिणा में भी बहुत अधिक धन रत्न स्वर्ण आदि दिये गए। धन ले जाने में ब्राह्मणों को स्वतन्त्रता दे दी गई। लोभी गौतम ने लोभ के कारण बहुत सा धन रत्न स्वर्ण आदि रख लिया। दक्षिणा लेकर ब्राह्मणों ने विरूपाक्ष को आशीर्वाद दिया और अपने अपने गन्तव्यों की ओर चले गये। गौतम भी धन रत्न आदि का भारी बोझ लेकर उसी मार्ग पर चला जहाँ पक्षीराज राजधर्मा का घर था। सन्ध्या होते होते वह पुनः राजधर्मा के घर पहुँच गया। पक्षीराज ने स्नेह और आदरपूर्वक उसका स्वागत किया। उसके भोजन-विश्राम आदि का प्रबन्ध किया। उसके लिए आग जला दी जिससे उसे रात्रि में शीत का कष्ट न हो। भोजन के पश्चात् जब गौतम विश्राम करने लगा,

तो राजधर्मा भी उसके पास ही सो रहा। लोभी गौतम को धन की चिंता में नींद न आई। वह करवटें बदलता रहा। आधी रात बीत गई। उसने देखा कि राजधर्मा भी वहीं पास हो सो रहा है। उसे देखकर क्रूर गौतम की कुटिलता जागी। वह सोचने लगा। अभी मुझे इतने धन का भार लेकर लम्बी यात्रा करनी है। मार्ग में खाने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है। क्यों न मैं इस बड़े पक्षी को मार कर इसका मांस भून कर अपने साथ रख लूँ ? इतना मांस मेरे पास रहेगा तो मेरी यात्रा निश्चित कट जायेगी।

लोभ व्यक्ति को अंधा बना देता है। कुटिल गौतम कुसंस्कारी तो था ही। लोभ ने उसे और भी क्रूर बना दिया। वह यह भूल गया कि पक्षीराज की कृपा से ही उसके प्राण बचे थे, उसे धन प्राप्त हुआ था। उसने एक जलती हुई लकड़ी उठाई और विश्वास में सोए राजधर्मा की हत्या कर दी। उसे मारकर उसने उसके पंख आदि छील कर वहीं फेंक दिये। उसके शव को आग में भून लिया। तब तक पौ फटने लगी थी। नीच गौतम धन और राजधर्मा का भूना हुआ शरीर लेकर शीघ्रता पूर्वक अपने गंतव्य की ओर चल पड़ा।

राजधर्मा का यह नियम था कि वह प्रतिदिन ब्रह्मा जी के दर्शन के लिए जाता और लौटते समय अपने मित्र विरूपाक्ष के घर ठहर कर उससे बातें करता और तब लौट कर अपने घर आता। किंतु आज दोपहर हो गई, राजधर्मा विरूपाक्ष के महल में नहीं आया। संध्या भी हो गई किंतु

पक्षीराज का कुछ पता न लगा। दूसरा दिन भी आ गया। राजधर्मा नहीं आया। अब विरूपाक्ष को चिंता होने लगी। मन में कुशंकाएँ उठने लगीं। उन्हें स्मरण हो आया कि क्रूर ब्राह्मण गौतम धन लेकर उनके मित्र राजधर्मा के घर की ओर ही गया था। मन में शंका हुई कि कहीं उस दुष्ट ने मेरे मित्र की हत्या तो नहीं कर दी। वे व्याकुल हो उठे। उन्होंने अपने पुत्र को बुलाया और उससे राजधर्मा को ढूँढ़ लाने के लिए कहा। राक्षसराज का पुत्र राक्षसों की सेना लेकर राजधर्मा की खोज में चल पड़ा। जब वे लोग वहाँ पहुँचे तो देखा कि राजधर्मा जिस वृक्ष पर रहते थे वहाँ नीचे बहुत सा पंख पड़ा है। जलाई गई आग का अवशेष भी है। उन्हें यह निश्चय हो गया कि क्रूर गौतम ने राजधर्मा की हत्या कर दी है। राक्षसगण चारों दिशाओं में गौतम ब्राह्मण को पकड़ने के लिए दौड़ पड़े। उनके एक दल ने गौतम को पकड़ लिया। उसके पास पक्षीराज का भूना हुआ शव भी प्राप्त हुआ। विरूपाक्ष के पुत्र ने गौतम को बाँधकर अपने पिता के सामने उपस्थित किया। जब राजधर्मा की मृत देह उनके सामने लाई गई तो वे फूट फूट कर रोने लगे। मन कुछ हल्का होने पर उन्हें गौतम पर बहुत क्रोध आया। उन्होंने राक्षसों को आज्ञा दी कि इस दुष्ट की बोटियाँ उड़ा दो। राक्षसगण उस पर टूट पड़े और उसकी बोटियाँ उड़ा दीं।

इधर विरूपाक्ष ने राजधर्मा की अंत्येष्टि का प्रबंध करवाया। चंदन के काठ की चिता बनाई गई। राजधर्मा की

मृत देह को रेशमी वस्त्रों से ढका गया। सुगंधित द्रव्यों का लेप किया गया। चिता पर उनकी मृत देह रख दी गई। भारी हृदय से विरूपाक्ष ने चिता में आग लगाई। उसी समय आकाश मार्ग से सुरभि धेनु जा रही थी। उसके मुँह से फेन युक्त दूध की बूँदें राजधर्मा की मृत देह पर पड़ी। वे अमृत की बूँदें थीं। राजधर्मा तुरंत जी उठे और प्रेम पूर्वक अपने मित्र विरूपाक्ष से मिले। उस स्थान पर प्रज्वलित चिता और उपस्थित जनसमूह को देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने विरूपाक्ष से अपनी जिज्ञासा प्रकट की। राक्षसराज ने कृतघ्न गौतम की क्रूरता की सारी कहानी कह सुनाई और प्रसन्न पूर्वक उसका बध करा देने की बात कही। किंतु गौतम के वध की बात सुनकर राजधर्मा दुखी हुए।

उसी समय उस रास्ते से देवराज इन्द्र कहीं जा रहे थे। विरूपाक्ष, राजधर्मा आदि को एक स्थान पर एकत्रित देख वे भी वहाँ आ गए। सभी ने श्रद्धा पूर्वक देवराज को प्रणाम किया। उन्हें उचित आसन पर बिठाया। देवराज के पूछने पर विरूपाक्ष ने सारी घटना विस्तार पूर्वक उन्हें बतलाई। राजधर्मा के पुनः जीवन प्राप्त करने की बात सुनकर देवराज बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने राजधर्मा को अनेक आशीर्वाद दिया। किन्तु इन्द्र ने देखा कि राजधर्मा कुछ दुखी से प्रतीत हो रहे हैं। उन्होंने उन्हें अभय दान देते हुए पूछा, "वत्स! क्या कारण है कि पुनर्जीवन प्राप्त करके भी तुम प्रसन्न नहीं हो? कहो, तुम्हें

क्या दुख है ? मैं तुम्हारा कष्ट दूर कर दूँगा।"

राजधर्मा ने विनीत भाव से कहा, "सुरराज, मुझे नवजीवन प्राप्त कर उतनी प्रसन्नता नहीं हो रही है जितना कि मुझे अपने मित्र गौतम की मृत्यु का दुख हो रहा है। यदि आप सचमुच मेरा दुख दूर करना चाहते हैं, तो कृपा पूर्वक अमृत सींच कर मेरे मित्र को पुनः जीवित कर दीजिये।"

पक्षीराज की यह क्षमा शीलता ! यह उदारता !! हृदय की यह विशालता !!! देखकर सभी का जी भर आया। देवराज गद्गद् हो उठे। उन्होंने अमृत सींचकर गौतम को पुनः जीवित कर दिया। राजधर्मा बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने गौतम को गले से लगा लिया। विरूपाक्ष से कह कर उसे और अधिक धन दिलाया और आदर पूर्वक उसे बिदा दी। पक्षीराज की इस उदारता पर देवों ने दुन्दुभि बजाई और फूलों की वर्षा की।

प्रभु यीशू ने कहा था—"यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारे तो दूसरा भी उसकी ओर कर दो।" यहूदियों ने जब उन्हें क्रूस पर लटका दिया, तब भी उन्होंने उनके कल्याण की ही प्रार्थना की थी। भगवान् महावीर के कान में बेंत का काँटा ठोक देने वाले ग्वाले को उन्होंने क्षमा प्रदान कर दिया था। स्वामी दयानंद सरस्वती को काँच पीस कर पिलाने वाले रसोइए को उन्होंने केवल क्षमा ही नहीं किया अपितु उसे धन देकर सुरक्षित स्थान में चले जाने का आग्रह किया।

संसार के सभी देश और काल के महापुरुषों की यही सीख है–बैर का बदला बैर से नहीं चुकाया जा सकता, बुराई को बुराई से नहीं मिटाया जा सकता, ईर्ष्या-द्वेष को ईर्ष्या और द्वेष से नहीं जीता जा सकता।

बुराई को भलाई से, शत्रुता को मैत्री से, द्वेष को सहानुभूति से, क्रूरता को दया और क्षमा से ही निर्मूल किया जा सकता है। हमारी मानसिक शांति तभी भग होती है जब हम इस शाश्वत नियम के विपरीत कार्य करते हैं। हम शत्रु को शत्रुता से, कपटी को कपट से जीतना चाहते हैं। किंतु परिणाम नितांत विपरीत होता है। कपटी, क्रूर आदि को जीतने के प्रयास में हम स्वयं कपटी, क्रूर और पापी हो जाते हैं। हमारा व्यक्तित्व विघटित और विक्षुब्ध हो जाता है।

यदि हम शांति और सुख चाहते हैं तो हमें अपना मार्ग बदलना होगा। दाँत के बदले दाँत और आँख के बदले आँख की नीति को त्याग कर प्रेम, दया, करुणा आदि समत्व भावों के शाश्वत नियमों के अनुसार अपने व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण करना होगा। महाभारत की यह कथा चरित्र गठन के एक मौलिक और शाश्वत नियम की घोषणा कर हमारा पथ-प्रदर्शन कर रही है।

बालकों के प्रति

एक दास

ईश्वर

मनुष्य की बुद्धि, विचारशक्ति, इन्द्रियों की शक्ति सभी सीमित हैं, किंतु मनुष्य साधारण परिस्थिति में अहंकार-वश अपनी सीमा को नहीं पहचानता। तथापि प्रकृति ऐसी परिस्थितियाँ उसके सम्मुख ला देती है कि समय समय पर वह चिंताओं से घिर जाता है। जब उसपर सहनशक्ति की सीमा से अधिक बोझ आ पड़ता है, तो वह घबरा जाता है, कष्ट का अनुभव करता है एवं व्याकुल हो जाता है। पहले तो वह अपने मित्रों एवं संबंधियों का सहारा ढूँढ़ता है, किंतु उनकी सहायता पर्याप्त नहीं जान पड़ती तब दुःखित हो जाता है। दुर्बल मन वाला व्यक्ति आत्महत्या में सब दुःखों से उद्धार देखता है। हमारी संस्कृति संकट में आत्मबल देने वाली है। उसमें निराश मन में प्राण फूँकने वाले मंत्र प्रचुरता से भरे पड़े हैं– "उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत; चरैवेति, चरैवेति; तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृत निश्चयः" इत्यादि। 'मानव! घबराओ नहीं; उठो, जागो; उत्तम पथ की जानकारी कर उसपर चलते ही रहो, चलते ही रहो; परिस्थितियों से युद्ध कर उनपर विजय प्राप्त कर अपना कल्याण करो।" हमारे प्राचीन शास्त्रों में कहा है कि भारतवर्ष में मात्र जन्म प्राप्त हो जाना भी बड़े सौभाग्य की बात है। पाश्चात्य देशों में सभ्य एवं शिक्षित जनों में भी

पारमार्थिक कर्तव्य, सत्कर्म एवं उसका फल, ईश्वर की सत्ता आदि के विषय में विशेष ज्ञान, श्रद्धा एवं विश्वास नहीं होता किंतु हमारे देश में ग्रामीण, अशिक्षित तथा नारियों एवं बालकों तक में इन विषयों का सहज ज्ञान होता है एवं उन्हें इनके प्रति श्रद्धा होती है। इसका रहस्य हमारी संस्कृति में ही समाया हुआ है। जीवनचर्या के प्रत्येक नियम में स्वास्थ्य एवं नीति के तत्त्व इस खूबी से गुँथे हैं कि अत्यन्त साधारण जन भी उनके पालन द्वारा अपना कल्याण साधन कर लेते हैं। जब तक हम अपनी संस्कृति के महत्त्वको न समझ लेंगे तब तक हम अपने जीवन को उसके अनुरूप ढालने का प्रयत्न नहीं कर सकते। हमारी संस्कृति हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों ने, सहस्रों वर्षों तक संसार का, एवं जीवन के भिन्न-भिन्न प्रश्नों का अध्ययन कर, वनों में निःस्वार्थ भाव का जीवन व्यतीत कर निर्मित की है। इस कारण वह निर्दोष है, उसमें चिरस्थायी प्राण हैं। रोम, ग्रीस एवं मिस्र आदि की संस्कृतियाँ लुप्तप्राय हो गईं किंतु हमारी संस्कृति सदियों के परतंत्र जीवन-रूप प्रहार को सहकर भी आज संसार में जीवित है। अन्य राष्ट्रवासियों ने जहाँ जहाँ इसका सरल और निश्छल भाव से अध्ययन किया है इसकी उत्तमता को स्वीकार किया है।

हमारी संस्कृति मानसिक सच्चरित्रता, शारीरिक स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिक कल्याण को प्रदान करने वाली है। आधुनिकतम आविष्कार भी इसे त्रुटि पूर्ण नहीं पाते। हमारा पवित्र कर्तव्य है कि हम इस धरोहर का पालन-पोषण एवं

संरक्षण करें तथा अपने व्यक्तिगत एवं राष्ट्रगत जीवन को इसके अनुरूप ढालें।

पाश्चात्य संस्कृति उपकरण-प्रधान एवं स्वार्थ-प्रेरित है। इसका मूल मंत्र है "जीवन संघर्ष" एवं "प्रकृति का आचूषण"। दूसरी ओर, ठीक इसके विपरीत, हमारी संस्कृति का प्राण निहित है "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः", "त्याग पुरःस्सर भोग" एवं "विश्व-बंधुत्व" में। हम हृदय से कामना करते हैं—"सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत्।" इसी कारण हम देखते हैं कि पाश्चात्य जगत् सुसम्पन्न होता हुआ भी मानसिक एवं आध्यात्मिक विकारों से विशेष पीड़ित है एवं शारीरिक विकारों से भी पूर्णतया मुक्त नहीं। उनकी संस्कृति बाहर से लुभावनी एवं प्रगतिपूर्ण दिखाई देती है किंतु आप यदि उसे अपनाते हैं तो आपको वह स्वार्थ एवं चिंता के अंधकारमय गर्त में ला गिराती है।

हमें प्रत्येक विषय में अपनी संस्कृति के रहस्य का अध्ययन करना चाहिये और उसे जानकर उसका पालन करना चाहिये। जीवन के प्रत्येक प्रश्न का हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों ने निःस्वार्थ भाव से अध्ययन किया है एवं ऐसा मार्ग दर्शन किया है जिससे हमें स्थायी ऐहिक एवं पारलौकिक सुखशांति प्राप्त हो। अतः हमें उपकरणावली पाश्चात्य सभ्यता के फेर में न पड़कर बाह्यरूप में यथा संभव सावधानी से एवं सीमित रूप से ही उसे अपनाना

चाहिये तथा आभ्यंतर दृढ़ जीवन-मूल अपनी ही संस्कृति में रखना चाहिये।

हमारे देश की शिक्षा पद्धति पाश्चात्यों की बनाई हुई है एवं इसका मूल उद्देश्य हमारी संस्कृति को मिटाने वाला ही है, इस कारण जब तक इसमें आमूल परिवर्तन न हो जाये हमें व्यक्तिगत आत्मबल द्वारा सतत पाश्चात्य बुराइयों से बचने के प्रयत्न में दृढ़ता पूर्वक जुटे रहना चाहिये।

संकट में पड़ा मनुष्य जब अपने संबंधियों, मित्रों आदि द्वारा अपने छुटकारे की राह नहीं देख पाता तब वह अपने से किसी बहुत अधिक बड़ी शक्ति का सहारा ढूँढ़ता है। ऐसा सहारा उसे समय आने पर अपने हृदय में ही ईश्वर के रूप में प्राप्त होता है और वह सब कष्टों से उद्धार पा लेता है।

साधारण मानव-विशेष कर पाश्चात्य सभ्यता के भ्रम में पड़ा हुआ मनुष्य-पहले तो ईश्वर के अस्तित्व पर ही विश्वास नहीं कर पाता। एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है कि "ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है यह बात कहाँ तक सत्य है इसका तो पता नहीं किन्तु मनुष्य ने ईश्वर को बनाया है यह बात बिलकुल सच है"। सचमुच संकट काल में कोई सहारा न पाने पर मनुष्य ने ही ईश्वर की कल्पना को जन्म दिया है। तथापि ज्यों ज्यों अपनी इस कल्पना के ईश्वर से हम अधिकाधिक परिचित होते जाते हैं त्यों त्यों उसका स्पष्टतर अनुभव होता जाता है।

सृष्टि में इतनी अधिक रचनाएँ हैं तथा इतनी अधिक प्रक्रियाएँ सतत हो रही हैं कि इन्हीं का विचार कर हमें इस निर्णय पर पहुँच जाना पड़ता है कि इसका रचयिता कोई अवश्य है तथा वह रचयिता एक ही है, कारण कि समस्त सृष्टि एक ही प्रकार शृंखलाबद्ध नियमों से चल रही है।

मानव से मानव, पशु से पशु एवं कीट-पतंगों से कीट-पतंग उत्पन्न होते हैं। पृथ्वी पर प्राणी जीवन धारण कर रह सकें इसके लिये सूर्य एवं वायु, वर्षा आदि का प्रबंध है। अणुवीक्षण यंत्र से भी न दीखने वाले सूक्ष्म प्राणी एवं अत्यन्त महान् परिमाण वाले ग्रह नक्षत्र आदि सभी अपने अपने नियमानुसार इस सृष्टि चक्र में बँधकर अपना अपना कार्य कर रहे हैं एंव अनंत काल से करते चले आ रहे हैं। इसी के रचयिता ने निम्नतर सृष्टि से श्रेष्ठ मानव में दस इन्द्रियों के अतिरिक्त बुद्धि जैसी अद्वितीय शक्ति स्थापित की है।

महामना मालवीय जी ने अपनी 'ईश्वर' नामक (गीताप्रेस से प्रकाशित) पुस्तिका में ईश्वर का परिचय बड़ी सरल एवं सुन्दर विधि से इस प्रकार दिया है। मनुष्य की रचित वस्तुओं में आप साधारण से एक मकान को देखकर विचार कीजिये। इसमें स्थान स्थान पर द्वार एवं खिड़कियाँ हैं। अलग अलग कमरे हैं। धूप और वर्षा से रक्षा पाने के लिए छत-छज्जे हैं। रसोई घर, शौचालय, दूषित पानी के निकलने के लिये नालियाँ, प्रकाश, पीने का पानी आदि सब का सुन्दर प्रबन्ध है। इसे देखकर आप

अवश्य मानेंगे कि इसका कोई रचने वाला था, वह चतुर था एवं उसे इस घर में रहने वालों की सुविधा, सुख और कल्याण का पूरा ध्यान था।

इसी प्रकार आप अपने शरीर के विषय में विचार करें। शरीर में,चलने के लिये पैर, काम करने के लिये हाथ, विचार के लिये मस्तिष्क, भोजन के लिये मुँह, पचने से बचे अवशेष के निकालने के लिये मल-मूत्र द्वार, देखने को आँखें, सुनने को कान, भोजन रखने एवं पचाने को उदर, संतानोत्पत्ति के लिये प्रजनन संस्थान,सूँघनेको नाक, श्वास लेने को फुफ्फुस आदि सभी आवश्यक एवं अनेक अवयव उत्तम क्रम एवं सुन्दरता से रखे गये हैं। इसको देखकर क्या हम इस बात को स्वीकार न करेंगे कि इसका कोई रचयिता था एवं है तथा वह ज्ञानवान् एवं शक्तिवान् है और उसने इस शरीर में निवास करने वाले की सुख-सुविधा कल्याण आदि को दृष्टि में रखकर इसे अनेक उपकरणों से युक्त बनाया है? ऐसी शक्ति जड़ न होकर महत् चैतन्य का स्वामी ही हो सकती है। संतों ने इसी स्वामी का आराधन कर, उसके द्वारा उत्पादित सृष्टि से स्नेह भाव रखकर, उसकी सेवा कर इस स्वामी से गाढ़ा परिचय प्राप्त किया है तथा उसे अत्यंत सन्निकट,स्नेही एवं आत्मीय पाया है। यही सर्वशक्तिमान् हमारा परम उदार कल्याणकारी पिता एवं ईश्वर है। अपना कल्याण साधन करने के लिये उसके प्रति हम शरणागत भाव से अनेकशः नमन करते हैं। इति शम्।

शांतिः शांतिः शांतिः ॥

मधुर उपदेश

(१)

संध्या काल का समय है। सब लड़के गुरुदेव के पास से वेदांत की शिक्षा लेकर निकले हैं। 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' आदि महा वाक्यों पर आपस में चर्चा हो रही है। जो नहीं समझ पाये वे अपने से ज्येष्ठ विद्यार्थियों से पूछ रहे हैं। दिवाली का अवसर है। शक्कर की भिन्न भिन्न आकार की मिठाइयाँ दूकानों में सजी हैं:—मंदिर, मकान, चिड़िया, खरगोश, कुत्ता, बिल्ली आदि। एक विद्यार्थी भिन्न भिन्न आकार वाले शक्कर के सब खिलौने ले आया और सब सहपाठियों के मुँह में एक एक ठूँसता हुआ कहने लगा "शक्कर सत्यं खिलौना मिथ्या"। इस सृष्टि में जो कुछ दिखाई देता है, ईश्वर ही सब कुछ स्वयं बना हुआ है। ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी उपदेश का महावाक्य है "सर्व खल्विदं ब्रह्म" "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः"। जगत् रूप से सब मिथ्या है किंतु ईश्वर रूप से सब सत्य है। जीव ब्रह्म ही है और कुछ नहीं।

(२)

"भाई, अमुक वैद्य आये हैं उनका बड़ा नाम है। दूर दूर से रोगी आते हैं। तुम अपने सिरदर्द की चिकित्सा उनसे क्यों नहीं कराते?"

"अच्छा भाई, चलो चलें।"

दोनों मित्र पहुँचे। वैद्यराज ने दो पुड़ियाएँ दीं और कहा कि छोटी पुड़िया पानी से खा लेना और बड़ी की दवा पानी में घिसकर लेप कर लेना। तुम्हारे समस्त रोग सदा के लिये दूर होंगे। कुछ काल पश्चात् वैद्यराज के पुनः पधारने पर रोगी फिर उनके पास पहुँचा। वैद्यजी ने प्रेम से पूछा। रोगी बोला, "क्या बताऊँ, महाराज। आपकी औषधियों से मेरा दर्द तो बहुत ही बढ़ गया और अब किसी प्रकार कम नहीं होता।" वैद्य बोले, "भैया, तुमने दवा किस प्रकार उपयोग की ?" उत्तर सुनकर पुनः बोले, "अरे, अरे ! तुमने लगाने की दवा खा ली और खाने की लगा ली। इस गलत प्रयोग से ही अब तुम्हारा रोग असाध्य हो गया है।"

ईश्वर वैद्य हैं। एक पुड़िया प्रवृति—लगाव—की और दूसरी निवृति—अलगाव—की है। प्रवृत्ति को परमात्मा की ओर एवं निवृत्ति को संसार की ओर लगाने का हमें आदेश देकर यहाँ भेजा गया है। किन्तु हमने प्रवृति पुड़िया तो संसार की ओर लगा दी और निवृत्ति औषधि को भगवान् की ओर प्रयोग कर दिया। इसी से हमारी भवभय रूप सिर दर्द की बीमारी असाध्य हो गई है। वे ही भव-भीम-रोग-वैद्य अब इसे आकर दूर करें ऐसी प्रार्थना है।

—o—

प्रश्न— कर्म और अकर्म में विवेक कैसे किया जाय ? जब स्वयं भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं कि 'कर्म की गति गहन है' तथा 'विद्वान् जन भी इस सम्बन्ध में भ्रमित हैं', तब मुझ जैसा साधारण व्यक्ति इसके तत्त्व को कैसे समझे ? गीतोक्त कर्म, अकर्म और विकर्म का क्या तात्पर्य है ?

—रमेश कुमार अग्रवाल, कानपुर

उत्तर— यह सत्य है कि कर्म और अकर्म का तत्व गहन है। गीता में कर्म, अकर्म और विकर्म क्रमशः कर्तव्य या करणीय कर्म; आलस्य, जड़ता और तमोगुण प्रधान कर्म तथा विपरीत या निषिद्ध कर्म के अर्थ में आया है। हमें निषिद्ध कर्मों से बचना चाहिए। इसी प्रकार हमें जड़ता और तमः प्रधान कर्मों से भी दूर रहना चाहिए। निषिद्ध कर्म यानी विकर्म का ज्ञान नीति, धर्म और आचार के बल पर होता है। नैतिक गिरावट विकर्म की देन है।

निठल्ला और अकर्मण्य रहने का भाव तमोगुण का लक्षण है और इसलिए अकर्म की देन है। हमें इन दोनों से बचना है और करणीय कर्म करने हैं। करणीय कर्म यानी ऐसे कर्म जो हमारे कर्तव्य के अन्तर्गत आते हैं। हम जिस स्थिति में हों, उस स्थिति में हमारा जो कर्तव्य है वह कर्म है। उदाहरणार्थ, यदि मैं शिक्षक हूँ तो शिक्षण मेरा कर्म है। अपने विद्यार्थियों से पक्षपात और अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न विकर्म है। अपने कर्तव्य में टालमटोल करूं, शिक्षण कार्य से जी चुराऊँ तो वह अकर्म है। यदि मैं व्यापारी हूँ तो ईमानदारी से व्यापार करना मेरा कर्म है; चोरी-बेईयानी और कालाबाजारी करना विकर्म है; तथा काम से जी चुराना, नशा या अन्य तमोगुणी भावों में डूबकर निठल्ला बैठे रहना अकर्म है। इस प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए कर्म, विकर्म और अकर्म का अर्थ निश्चित कर सकता है। गीता का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को विकर्म और अकर्म से दूर रहना चाहिए तथा कर्म को ईश्वर समर्पित बुद्धि से यानी फलाफल ईश्वर पर डाल कर, करना चाहिए।

× × ×

प्रश्न— क्या आप अंग्रेजी भाषा में कोई ऐसी पुस्तक बता सकते हैं जो हिन्दू धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों को सरलता से समझाती हो ?— एच० बी० आर० कृष्णमूर्ति; बम्बई

उत्तर— स्वामी निर्वेदानन्द लिखित "Hinduism at a glance' से आपका प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। इस पुस्तक में हिन्दू धर्म के विभिन्न पक्षों की सुन्दर चर्चा की गयी है। साधारण जन भी उससे लाभ उठा सकते हैं। मिलने का पता— अद्वैत आश्रम, ५ डिही एन्टली रोड, कलकत्ता-१४.

× × ×

प्रश्न— क्या आप भूत-प्रेत में विश्वास करते हैं ? आखिर ये क्या होते हैं ?

—गुलशन कौर, दिल्ली

उत्तर— हाँ, हमें भूत-प्रेत में विश्वास है, पर उस तरह से नहीं जैसी उनके सम्बन्ध में आम धारणा है। हम उसे जीव की एक योनि मानते हैं। विभिन्न योनियाँ मन के विभिन्न स्पन्दनों के परिणाम हैं। जैसे यह स्थूल शरीर मन के एक विशेष स्पन्दन के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर या प्रेत-योनि भी मन ही के विशेष स्पन्दन का फल है। इस पर विस्तृत चर्चा इस स्तम्भ में सम्भव नहीं।

आश्रम समाचार

(१ जून से ३१ अगस्त तक)

साप्ताहिक सत्संग—

२ जुलाई से आश्रम के सत्संग भवन में ग्रीष्मावकाश के बाद पुनः रविवासरीय सत्संग प्रारम्भ किया गया। स्वामी आत्मानन्द ने इसके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता को चर्चा के लिए हाथ में लिया है। २,९,१६,२३,३० जुलाई तथा ६,१३,२०, २७ अगस्त इन नौ रविवारों में गीता पर नौ प्रवचन हो चुके हैं। श्रोतागण भारी संख्या में इन प्रवचनों का लाभ उठा रहे हैं।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम—

३१ जुलाई को अमेरिका स्थित शिकागो शहर के विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी के अध्यक्ष स्वामी भाष्यानन्द जी महाराज ने How An American Looks at Vedanta विषय पर प्रभावी भाषण दिया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय के कुलपति डा० बाबूराम जी सक्सेन ने की। स्वामी जी ने अपने व्याख्यान में बतलाया कि अत्यन्त भौतिक समृद्धि के बावजूद अमेरिकन दुखी हैं। भोजन वस्त्र और आच्छादन का उसे अभाव नहीं है पर बिना नींद की गोलियाँ खाये वह सो नहीं पाता। एक साधारण अमेरिकन सतत बेकल, बेचैन और विक्षुब्ध है। वेदान्त की ओर वह शांति की तलाश में आता है। और सच्चे जिज्ञासुओं को शान्ति प्राप्त भी होती है।

स्वातंत्र्य दिवस—

१५ अगस्त को स्वातंत्र्य दिवस के उपलक्ष में एक विचारोत्तेजक परिसंवाद का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। इस परिसंवाद का विषय था — "राष्ट्र के उत्थान में मेरा योगदान"। इसमें वकील, व्यापारी, राजनीतिज्ञ, इंजीनियर, शिक्षक, साहित्यिक, चिकित्सक शिल्पक, छात्र, और धर्मनेता ऐसे नौ वर्गों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया और यह बतलाया कि उनका वर्ग देश की उन्नति में किस प्रकार योगदान दे सकता है। वकीलों की ओर से श्री कुन्तल कुमार चौहान ने वकील वर्ग को समाज रूपी मशीन का एक महत्त्वपूर्ण पुर्जा निरूपित करते हुए कहा कि जिस प्रकार मानव शरीर को चलाते रहने के लिए प्राण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रजातंत्र में कानून की व्यवस्था का होना अत्यावश्यक है। वकील का यह दायित्व है कि वह कानून की व्यवस्था और समानाधिकारों की सुरक्षा का ध्यान रखे। यदि वकील अपने कर्तव्य को ठीक प्रकार से न निभाएँ तो प्रजातंत्र का चलना कठिन है।

व्यापारियों के प्रतिनिधि श्री महावीर प्रसाद अग्रवाल ने सर्व-प्रथम वर्तमान समाज में व्यापारियों के बारे में व्याप्त कतिपय भ्रान्त धारणाओं के लिए सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिज्ञों को उत्तरदायी बतलाया। आपने कहा, यह सच है कि हरेक वर्ग में, हरेक पेशे में कुछ 'काली भेड़ें' हुआ करती हैं, किन्तु केवल उस कारण समस्त वर्ग को दोषी नहीं कहा जा सकता। आज तो व्यापार राजनीति के साथ जुड़ गया है। कतिपय अवांछनीय तत्त्व उसमें भी शामिल हो गये हैं, इसीलिए हमें 'कोटा - लायसेंस - परमिट

'राज' का नजारा देखने को मिलता है। जहाँ तक राष्ट्रभक्ति और जनसेवा का प्रश्न है, व्यापारी किसी से पीछे नहीं है। देश को समृद्ध बनाने का महान् दायित्व उसी पर निर्भर है।

राष्ट्रनिर्माण में राजनीतिज्ञों के योग पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए श्री कमलनारायण शर्मा ने कहा कि राजनीतिज्ञ के बारे में प्रायः यह समझा जाता है कि वह एक ऐसा धूर्त प्राणी है जो हरेक को बेवकूफ बनाकर अपना उल्लू सीधा करता है! दुर्भाग्य से पिछले २० वर्षों में हमारे देश में जो कुछ होता रहा, यह धारणा भी उसी की देन है। किन्तु जैसा कि स्व० महात्मा गांधी ने कहा है—"राजनीति बिनाधर्म के आत्मा के लिए एक मरणजाल है।" सच्चा राजनीतिज्ञ वह है जो जातिवाद, मोह-लालच और मिथ्या आडम्बरों के परे है— जिसका अपना कुछ नहीं होता और समाज के लिए विसर्जन-सर्वस्वार्पण ही जिसका प्रमुख लक्ष्य है। राजनीतिज्ञ एक कुशल माली है जो समाजरूपी बाग को सुन्दर बनाने के लिए अनावश्यक उभरी हुई प्रवृत्तियों को उगाल की भाँति काटता है ताकि वह दूसरों के विकास में बाधक न बने।

लोक कर्म विभाग के सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर श्री नायटे ने देश के बड़े बड़े निर्माण कार्यों को इंजीनियरों की देन निरूपित करते हुए, इस बात का गौरव के साथ उल्लेख किया कि भारतीय इंजीनियर देश-प्रेम की भावना से देश को समुन्नत बनाने में जुटे हैं। देश सेवा में वह किसी से पीछे नहीं है।

डा० नरेन्द्र देव वर्मा ने राष्ट्रोत्थान में साहित्यकारों के योगदान पर बड़े ही प्रभावी ढंग से अपने विचार व्यक्त किये। आपने कहा,

साहित्यकार में ऐसी अलौकिक शक्ति होती है कि मृतप्राय समाज में वह प्राण फूँककर उसे शौर्य और उत्साह से भर सकता है। उस पर राजनीतिज्ञ का अंकुश नहीं रह सकता और इसीलिए राजनीति के आदिम प्रवक्ता प्लेटो ने कहा था—"कवियों को बुलाइए, साहित्यकारों को बुलाइए। उन्हें मुकुट से सुशोभित कर उनका स्वागत कीजिए किन्तु इसके साथ ही उन्हें राज्य की सीमा के बाहर निकाल दीजिए।" प्लेटो साहित्यकार की अलौकिक शक्ति से परिचित था कि वह चाहे तो राज्य को बना दे या मिटा दे। साहित्यकार जीवन के मार्मिक संगीत को प्रस्तुत कर समाज की मूलभूत आवश्यकता का अनुभव करता है और इस प्रकार वह युग को उत्थान की ओर नियोजित करता है।

चिकित्सकों का प्रतिनिधित्व करते हुए डा० डी० बी० राजिमवाले ने अपने रोचक भाषण में कहा कि विलियम बायड ने सच ही कहा है - "मरने में कोई आश्चर्य नहीं–आश्चर्य तो जीने में है।' चिकित्सा शास्त्र में वह शक्ति है जो व्यक्ति को जीवित बनाये रखने के लिए जरूरी है। मनुष्य में जब तक शक्ति नहीं होगी, वह कुछ नहीं कर सकता। उसे शक्तिशाली बनाना, विभिन्न व्याधियों से मुक्त करना - यह महान् उत्तरदायित्व चिकित्सक का ही है।

"शिक्षक को 'बेचारा मास्टर' सम्बोधित कर उसे शक्तिहीन समझने वालों को भी अन्तर्दृष्टि, दूरदृष्टि और पूर्वदृष्टि देने का कार्य उस शिक्षक का होता है" इन प्रभावी शब्दों के साथ प्राचार्य रणवीर शास्त्री जी ने राष्ट्रोत्थान में शिक्षक के योगदान की चर्चा की। आपने कहा कि अभ्युदय और निःश्रेयस् इन दो दृष्टियों में समन्वय लाकर, मानवसमाज में राष्ट्रीय एकता और समता की भावना

पैदा करने तथा राष्ट्रीय चारित्र्य के निर्माण का महान् उत्तरदायित्व उस शिक्षक पर से है जिसे 'बेचारा मास्टर' कहकर शक्तिहीन समझा जाता है। आपने कहा कि शिक्षक तो समाज की आत्मा है। आत्मा के बिना प्राण स्पन्दनहीन है।

छात्र वर्ग को राष्ट्र की रीढ़ निरूपित करते हुए छात्रों के प्रतिनिधि श्री केदारनाथ शिवहरे ने कहा कि सभी लोगों को छात्र की स्थिति में से होकर गुजरना पड़ता है। छात्रजीवन में व्यक्ति जो कुछ संस्कार अर्जित करता है वही राष्ट्र के लिए बाद में उसकी देन होती है। अतः छात्रजीवन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवस्था है जिसमें राष्ट्र की भावी जिम्मेदारी को भली भाँति निभाने हेतु समुचित संस्कार पैदा किये जा सकते हैं। जहाँ तक राष्ट्र की स्वाधीनता और उसकी रक्षा का प्रश्न है, छात्रवर्ग सदैव देश प्रेम की भावना से देश के लिए जीने और मर मिटने के लिए तत्पर रहा है। यह कोई कम योग दान नहीं। आवश्यकता है छात्रावस्था के महत्त्व को समझकर उसके सदुपयोग की।

राष्ट्रोत्थान में धर्मनेता के योगदान पर अत्यन्त मार्मिक शब्दों में श्री सन्तोष कुमार झा ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण के उन श्लोकों को सुनाया जिसमें उन्होंने धर्मनेता के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दायित्व और आवश्यकता को प्रतिपादित किया है—"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्, धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥" श्री झा ने कहा कि धर्म का अर्थ सम्प्रदाय से नहीं है। धर्म 'आत्मवत् सर्वभूतेषु,' की भावना का प्रसारण करता है। "धारणात् धर्मः"

यानी धर्म प्रजा का धारण करता है। वह मनुष्य में से पशुत्व को निकालकर उसके निहित देवत्व को प्रकट करता है। यदि धर्म का यह सच्चा भाव लोगों में घर कर जाय, तो राष्ट्र उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जायेगा।

अन्त में, अध्यक्षीय भाषण देते हुए स्वामी आत्मानन्द ने अत्यन्त रोचक ढंग से इस तथ्य को प्रतिपादित किया कि जहाँ राष्ट्र के निर्माण में विभिन्न वर्गों का योगदान अपनी विशिष्टता के लिए अनिवार्य है, वह उन सबमें परस्पर सद्भाव, एकता और समन्वय स्थापित करने के लिए धर्म का अधिष्ठान भी उतना ही आवश्यक एवं अनिवार्य है। धर्म ही समाज का प्राण है। धर्म ही वकील, व्यापारी, राजनीतिज्ञ आदि वर्गों में त्याग का भाव भरकर दूसरों की सेवा से आनन्द ग्रहण करने का पाठ सिखाता है। अतः राष्ट्रनिर्माण में प्रयत्नशील सभी वर्गों में धर्मतत्व का होना आवश्यक है। धर्म का जीवन में अभाव ही हमारे राष्ट्र के सब ओर से पतित होनेका कारण है।

जन्माष्टमी—

२८ अगस्त को जन्माष्टमी के उपलक्ष में एक धर्म सभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। इस अवसर पर रामकृष्ण आश्रम, नागपुर के स्वामी व्योमानन्द जी तथा स्थानीय संस्कृत महाविद्यालय के डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने भगवान् श्री कृष्ण के जीवन और सन्देश पर व्याख्यान दिया।

स्वामी व्योमानन्दजी ने अपने भाषण में भक्तितत्व की चर्चा की और कहा कि अशान्त मानव को भक्ति की अमृतवारि से ही शांति प्राप्त हो सकती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने जहाँ ज्ञान और

कर्म के उपदेश दिये हैं वहीं भक्ति पर उन्होंने अधिक जोर दिया है। वेदव्यास को शांन्ति अन्त में भक्तिपरक भागवत की रचना करने पर ही मिली। स्वामीजी ने सन्त ज्ञानेश्वर का उद्धरण देते हुए कहा कि गीता एक ऐसी माला है जो नारायण कृष्ण ने नर रूप अर्जुन को भेंट की, जिसमें अध्यायों की १८ लड़ियाँ हैं और श्लोकों के ७०० पुष्प। पर माला से सुगन्धि एक ही निकल रही है और वह है भगवान् के चरणों में शरणागति की। व्योमानन्द जी ने गोपीप्रेम पर भी चर्चा की और कहा कि जब तक मन का मैल नहीं धुल जाता तब तक गोपियों के प्रेम को समझा नहीं जा सकता।

डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने भाषण में गीतोक्त कर्मयोग पर चर्चा करते हुए कहा कि कर्म यदि अनासक्त भाव से किया जाय तो वही कर्मयोग हो जाता है। उन्होंने कर्म, अकर्म और विकर्म इन तीन रूपों पर चर्चा की और भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन की उन घटनाओं की ओर भी इंगित किया जो सामान्य दृष्टि से कर्म के घेरे में नहीं आतीं। आपने कहा कि धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करणीय है। अधर्म के नाश के लिए कर्म करना चाहिए। कर्म करते समय ईश्वर का ध्यान करना ही भक्तियोग की स्थिति की प्राप्ति है। अतः मूल तत्त्व यही है कि ईश्वर का ध्यान करते हुए निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए।

अन्त में अध्यक्ष पद से स्वामी आत्मानन्द ने भगवान् कृष्ण के जीवन और सन्देश पर अत्यन्त प्रभावशाली एवं प्रेरणास्पद विचार व्यक्त करते हुए कहा कि भारतीय इतिहास में भगवान् कृष्ण एक ऐसा चरित्र है जो जीवन के सभी पहलुओं को स्पर्श करता है। कृष्ण के समूचे व्यक्तित्व को दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक गोपीजन-

वल्लभ रूप और दूसरा गीतागायक रूप। स्वामीजी ने कहा कि कृष्ण में आपातविरोधी प्रवृत्तियाँ एक साथ दिखाई देती हैं इसीलिए वे योगेश्वर हैं। तत्कालीन समाज में जो कर्मठ व्यक्ति था वह यज्ञयागादि कर स्वर्ग जाने का रास्ता प्रशस्त करता था और इस प्रकार अपने स्वार्थ का साधन ही करता था। दूसरी ओर जो ज्ञानी था, वह सन्यासी बन जाता था और समाज से अलग होकर अरण्य में या किसी गुफा में जाकर अपनी मुक्ति की साधना करता था। भगवान् कृष्ण ने कर्मयोग का पाठ पढ़ाकर कर्मठ व्यक्ति को निष्काम कर्म की ओर लगाया और कहा कि ईश्वर को फलाफल सौंपकर कर्म करने से यह कर्म ही यज्ञ बन जाता है; द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ऐसा ज्ञानमय यज्ञ ही श्रेष्ठ है। कृष्ण ने सन्यासी से कहा कि 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' यदि तुम इस निष्काम कर्म रूपी यज्ञ को सम्पन्न करोगे तो इसी से तुम्हारी मुक्ति होगी। मनुष्य समाज से जो ग्रहण करता है, उसे समाज को लौटाना भी चाहिए। यह कदापि उचित नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य समाज में रहकर उससे सब कुछ ग्रहण करता जाय और फिर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में लिप्त होकर वह समाज की परवाह न करे।

स्वामीजी ने आगे कहा कि भारत को एक राष्ट्र के रूप में खड़ा करने के लिए भगवान् कृष्ण ने अथक प्रयत्न किया। जो राजा सामन्तवादी थे, विखण्डता के पोषक थे, उनके उन्मूलन में कृष्ण सचेष्ट हैं। धर्मात्मा युधिष्ठिर के द्वारा इसी हेतु वे राजसूय यज्ञ करवाते हैं कि विभिन्न घटक धर्मराज के अर्थात् धर्म के ही नियंत्रण में रहें। भगवान् कृष्ण धर्म के सम्यक् ज्ञाता थे और इसीलिए वे युधिष्ठिर और धृष्टद्युम्न के द्वारा द्रोण का शिखण्डी के द्वारा भीष्म

का, अर्जुन के द्वारा निहत्थे कर्ण का तथा भीम के द्वारा छल से दुर्योधन का वध करा सके। कृष्ण के सन्देश को महाभारत के मर्म के माध्यम से यदि समेटा जाय तो वह इस प्रकार होगा—"मनुष्य शीलवानों के साथ शीलपूर्वक व्यवहार करे। जो शठ हैं उनके प्रति शठता से व्यवहार करे। धर्म को इतना न खींचा जाय कि वह अव्यावहारिक हो जाय। जो कर्तव्य कर्म हैं वे भागवत् समर्पित बुद्धि से यदि किये जायँ तो उनके दोषों का लेप कर्ता पर नहीं होता। जो आततायी और विधर्मी हैं, उनका वध बिना किसी हिचक के कर देना चाहिए—यह राजा को आदेश है। अतः चूँकि कौरव आततायी हैं, इसलिए उन्हें किसी भी प्रकार नष्ट करना चाहिए। अन्याय का प्रतीकार उचित-अनुचित सभी तरीकों से करना चाहिए। अधर्म के नाश के लिए यह नहीं सोचना चाहिए कि यह तरीका तो गलत होगा। जिस किसी प्रकार आततायियों का दमन हो, वह करणीय है।" इस दृष्टि से यदि हम भगवान् कृष्ण के कार्यों को देखें तो विदित होगा कि उनके सभी कर्म अधर्म के उन्मूलन के लिए ही हुए थे।

स्वामी आत्मानन्द ने कहा कि कृष्ण का यह आदर्श आज के सन्दर्भ में भारत के लिए नितान्त अनुकरणीय है। जब चारों ओर अततायियों से घिरकर हम धर्मनिरपेक्षता, अहिंसा इत्यादि के अर्थहीन नारे लगा रहे हैं तब भारत की सार्वभौम अखण्डता और सुरक्षा के लिए कृष्ण का जीवन आलोकस्तम्भस्वरूप है। हम उससे अपना मार्ग प्रशस्त करें।

स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम—

७ जून को नगरपालिका, बिलासपुर की ओर से नगर के

विवेकानन्द उद्यान में एक अत्यन्त सुरुचिपूर्ण कार्यक्रम रखा गया। इस हेतु रामकृष्ण मिशन के सहायक सचिव स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज बेलुड़ मठ, कलकत्ता से पधारे थे। उनके करकमलों द्वारा उद्यान में स्थापित स्वामी विवेकानन्द की मूर्ति का अनावरण हुआ। इस अवसर पर अंगरेजी में भाषण देते हुए स्वामी भूतेशानन्दजी ने स्वामी विवेकानन्द के प्रेरणादायी सन्देश को विशाल जनसमूह के सामने प्रस्तुत किया। उन्होंने बतलाया कि कैसे स्वामीजी का हृदय भारत के निर्धनों, उत्पीड़ितों और पददलितों की आह से बिंधा हुआ था। यह स्वामी विवेकानन्द ही थे जिन्होंने आधुनिकता के परिपेक्ष्य में, एक नयी भाषा में अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों को समाज जीवन के लिए अनिवार्य निरूपित किया। जिस समय भारत तमोगुण में डूबकर और अज्ञान से घिरकर धर्म-आत्मा-परमात्मा के अर्थहीन प्रलाप में पड़ा हुआ था, स्वामी विवेकानन्द आये और 'दरिद्रनारायण' की सेवा को समाज में प्रतिष्ठित किया। पुस्तकों और मन्दिरों और गिरि-गुफाओं के ईश्वर को लूलों, लंगड़ों, कोढ़ियों और पीड़ितों में अवतरित किया। स्वामी विवेकानन्द की यह महती देन थी।

स्वामी आत्मानन्द ने इस अंगरेजी भाषण को अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी हिन्दी में अनुवादित कर उपस्थित विशाल जनसमुदाय को चकित और मुग्ध कर दिया।

१७ जून को स्वामी आत्मानन्द ने रायपुर स्थित अम्बा मन्दिर के प्रांगण में निर्मित सत्संग भवन का उद्घाटन किया। अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने सत्संग की महिमा पर बल देते हुए कहा कि सत्संग के द्वारा ही मनुष्य को अपने ईश्वरीय स्वरूप का

बोध होता है। आज मनुष्य पर पशुता हावी है इसीलिए उसका ईश्वरत्व छिपा हुआ है। सत्ता से जैसे जैसे पशुता दूर होती है, यह निहित ईश्वरत्व प्रकट होने लगता है।

२८ जून को कोतमा (जमुना कोलियारी) के लायन्स क्लब की ओर से स्वामीजी को आमन्त्रित किया गया। इस अवसर पर उन्होंने "कर्मयोग का महत्त्व-वैज्ञानिक संदर्भ मे" इस विषय पर अत्यन्त भावग्राही चर्चा की।

१५ अगस्त को स्थानीय शासकीय स्नातकोत्तर विज्ञान महाविद्यालय के छात्रावास नं० १ में प्रतिभोज का आयोजन किया गया था। स्वामी जी ने वहां छात्रों के दायित्व पर प्रेरणास्पद विचार प्रगट करते हुए भर्तृहरि का एक श्लोक सुनाया जिसका तात्पर्य है मनुष्य के चार प्रकार होते हैं। पहला है 'सत्पुरुष'। यह दूसरों के हितसाधन में अपने स्वार्थ की बलि दे देता है। दूसरा है 'सामान्य पुरुष'। यह तभी तक दूसरों की मदद करता है जब तक उसके स्वार्थ पर चोट नहीं पहुँचती। तीसरा है 'मानव-राक्षस', जो अपने स्वार्थसाधन के लिए दूसरों का गला घोंटने में नहीं हिचकता। चौथी भी एक कोटि है जिसको भर्तृहरि कोई नाम नहीं दे पाते; यह व्यक्ति अकारण ही दूसरों के हित को नष्ट करता रहता है। स्वामीजी ने छात्रों से कहा कि हमारे भीतर तीसरे और चौथे प्रकार के मनुष्य ही अधिक हैं। हम इन दोनों कोटियों से ऊपर उठें और कम से कम दूसरी कोटि यानी 'सामान्य पुरुष' बनने की कोशिश करें।

२८ अगस्त को जन्माष्टमी के उपलक्ष में स्थानीय कमलादेवी संगीत महाविद्यालय में एक सुरुचिपूर्ण कार्यक्रम का आयोजन किया

गया था। प्राचार्य अरुणकुमार सेन और उनके सहयोगियों ने कृष्ण की बाललीलाओं का भावग्राही चित्रण संगीत के माध्यम से किया। अन्त में स्वामी आत्मानन्द ने कृष्ण के इसी पक्ष का अत्यन्त सरस चित्रण करते हुए अपने संक्षिप्त भाषण में कहा कि भक्ति के पाँच भावों में से तीन भाव-सख्य, वात्सल्य और मधुर— भगवान् कृष्ण की ही देन हैं। कृष्ण का गोपीजनवल्लभ रूप अपूर्व माधुर्य की सृष्टि करता है। साधारणतया, मनुष्य आध्यात्मिक साधना को निर्मम और रूखा समझता है। यह कृष्ण का ही प्रसाद है कि वह साधना सरसता, मधुरता और भावविह्वलता को प्राप्त हुई है।

३१ अगस्त को स्वामीजी आमन्त्रित होकर बिलासपुर गये जहाँ सी० एम० डी० महाविद्यालय की गाँधी समिति और विज्ञान समिति के सम्मिलित तत्त्वावधान में उनके भाषण का आयोजन किया गया था। इस अवसर पर स्वामीजी ने "विज्ञान के युग में धर्म का भविष्य" इस विषय पर युक्तियुक्त और विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया।

———

विवेक-ज्योति

१९६७

अनुक्रमणिका

स्तम्भ और विषय — पृष्ठ

स्तम्भ और विषय पृष्ठ

स्तम्भ और विषय पृष्ठ

Registered with the Registrar of Newspapers
for India under No. RN 7764/63.

श्रीरामकृष्ण उवाच

ईश्वर की इति नहीं की जा सकती। वे निराकार हैं, फिर भी। भक्त के लिए वे साकार हैं। जो ज्ञानी हैं अर्थात् जो को एक सपना मानते हैं उनके लिए वे निराकार हैं। भक्त जान कि मैं अलग हूँ और संसार अलग है। अतः भक्त के पास २ "व्यक्ति' बनकर आते हैं।

यह कैसा है जानते हो? जैसे सच्चिदानन्द सागर — f अन्त हीन। भक्ति-हिम से जगह जगह पर पानी बरफ में जम है—आकार वाला हो जाता है। अर्थात् भक्त के लिए वे व्य होकर कभी कभी रूप धारण करते हैं। ज्ञान सूर्य के उठने प गल जाती है; तब ईश्वर की प्रतीति व्यक्ति के रूप में नहीं होती; उनके रूप के भी दर्शन नहीं होते। वे क्या हैं यह कहकर प्रकट किया जा सकता। कौन कहेगा भी? जो कहेगा वही नहीं है— अपना 'मैं' खोजे नहीं पाता।

विचार करते करते 'मैं' का बोध नहीं रह जाता। प्याज तुमने ऊपर का लाल छिलका निकाला। उसके बाद सफेद छिलका इसी प्रकार छिलके पर छिलका निकालते रहो तो अन्त में कुछ नहीं रहता।

जहाँ अपना 'मैं' खोजे नहीं मिलता — और भला खोजे भी कौन — वहाँ ब्रह्म के स्वरूप का साँस-साँस में बोध किस प्रक होता है यह कौन बताए! एक नमक का पुतला समुद्र की थाह प गया। एक पग धरा नहीं कि गलकर जल से मिल गया। फिर ख दे कौन कि समुद्र कितना गहरा है!

भक्त के लिए ब्रह्म सगुण है — वह व्यक्ति बनकर, रूप धार कर दिखायी देता है। वह भक्त की प्रार्थना सुनता है। भक्ति पथ उसे सहजता से पाया जा सकता है।

— २८ अक्तूबर, १८८

मुद्रक—श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी—१